विषय सूची

दो शब्द

संसार में दुःख पाते हुए प्राणी को सुख प्राप्त करने के लिए धर्म ही प्रधान कारण है। अतः प्रत्येक प्राणी को धर्म का सेवन करना चाहिए।

साध्य धर्म सबका एक होने पर भी साधन में बहुत कुछ विचित्रता दिखाई पड़ती है। प्रत्येक मनुष्य अपनी २ रुचि के अनुसार धर्म के साधनो को स्वीकार कर उनका आराधन करता है। फिर भी विशिष्ट पुरुषो ने उनमे हिताहित और तथ्या-तथ्य का विचार करके जनता के कल्याणार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावानुसार मार्ग प्रदर्शन कराया, इस कारण जनता उन्हे अवतार के रूप मे मानती व पूजती है।

विशिष्ट पुरुष परिस्थिती का विचार करके किसी एक तत्व को मुख्यता देकर उसका विशेष रूप से प्रतिपादन करते है और उसके दूसरे तत्व को गौण कर देते है। परन्तु परम्परा में उनके अनुयायी परिस्थिति एवं वातावरण बदल जाने पर भी उसी परिपाटी का अवलम्बन लेकर एकान्त रूप से उस तत्व का प्रतिपादन करते रहते हैं और दुसरा विरोध करने लग जाते है, इसलिए वह तत्व जनता का हित करने के बदले अहित का कारण बन जाता है।

जैन दर्शन मे भी यही नियम लागू होने से इसमे भी अनेक सम्प्रदायवाद चल पडे है, जो एक दूसरे से भिन्न दिखाई पड़ते हैं। परन्तु तेरह-पन्थ सम्प्रदाय की मान्यता और सिद्धान्त तो निराले ही ढंग के है। वे किसी भी जैन अजैन के सिद्धान्त से मेल नहीं खाते है।

प्रत्येक सम्प्रदाय को अपने २ तत्वो का प्रचार करने की स्वतन्त्रता है किन्तु दूसरों पर आक्रमण न करते हुए अपना प्रचार कर सकते हैं। तब

प्रश्न यह होता है कि इस समय ऐसी पुस्तिका प्रकट करने की क्या आवश्यकता है ? इसके समाधान में यह कहना होगा कि तेरह-पन्थी लोगों ने जहाँ कि इनका कोई अस्तित्व ही नहीं है, उन प्रान्तों में भी जाकर स्थानकवासी जैन समाज के साधु श्रावकों की निन्दा करके दम्भ द्वारा अपने मन्तव्यों का प्रचार करना प्रारम्भ किया है और साधारण समझ वाली स्थानकवासी जैन जनता को चक्कर में डालने की चेष्टा कर रहे हैं।

यह देखकर राजकोट की श्री जैन ज्ञानोदय सोसायटी ने जैन समाज की रक्षा के हेतु यह निबन्ध प० श्री शंकरप्रसादजी दीक्षित से तैयार करवाकर मण्डल को प्रकाशित करने के लिए अनुरोध किया, उनके आग्रह को मान देकर मण्डल ने यह पुस्तक प्रकाशित की है।

इस समय कागज आदि छपाई के साधनों की अत्यन्त मँहगाई होने से लागत बहुत बैठती है। इसलिए मंडल आफिस ने श्रीजवाहिर स्मारक साहित्य फन्ड में से कुछ रकम इसमें लेकर पुस्तक का पौणा मूल्य ॥=) रखा जाता है। यह प्रकट करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता होती है, कि इस पुस्तक का प्रथम संस्करण श्रीमान् सेठ ताराचन्दजी भागचन्दजी साहब गेलड़ा ने अर्द्ध मूल्य ।) चार आने में वितरण कराकर हमारा उत्साह बढ़ाया था।

यह संस्करण खर्च अधिक बैठने से किंमत बढ़ानी पड़ी है अतः क्षम्य है।

रतलाम, आश्विन शुक्ला पूर्णिमा सं० २००७

भवदीय

बालचन्द, श्रीश्रीमाल

उपप्रमुख

श्री जैन हितेच्छु श्रावक मंडल

रतलाम.

सम्पादक और प्रकाश

निवेदन

तेरह-पन्थी सम्प्रदाय के सिद्धान्त, तेरह-पन्थी सम्प्रदाय की मान्यता, जैन सिद्धान्तो से और जैन मान्यता से कैसा वैपरीत्य रखती हैं, यह हमने प्रस्तुत पुस्तक मे संक्षेप में वताया है। तेरह-पन्थ सम्प्रदाय की मान्यताएँ जैन मान्यताओं के ही विरुद्ध नहीं है, किन्तु संसार के समस्त धर्मों की मान्यताओं के भी विरुद्ध हैं और आत्मा के भी विरुद्ध है। लगभग सभी धर्मों का यह कथन है कि—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

अर्थात्—जो अपने आत्मा के प्रतिकूल हो, जो अपने आत्मा को बुरा लगे, वैसा व्यवहार दूसरे के साथ कभी न करो।

इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि तुम दूसरे के साथ भी वैसा ही व्यवहार करो, जैसा व्यवहार तुम अपने लिए चाहते हो। इसके अनुसार यदि हम आग में जलते हों, पानी में डूबते हो,

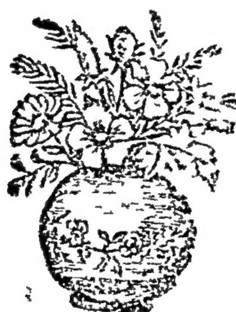
या किसी के द्वारा मारे जाते हो, पीड़ित किये जाते हो तो उस समय हम यही चाहते है कि कोई हमें बचाले, हमारे प्राणों की रक्षा करे, हमको कष्ट से मुक्त करे। यदि हम भूखे हो, तो यही चाहते हैं कि कोई हमको भोजन दे। यदि हम प्यासे हो, तो यही चाहते है कि कोई हमें पानी पिलादे। यदि हम बीमार हो, तो यही चाहते है कि कोई हमे रोग से मुक्तकर दे। इसलिए हमारा भी यह कर्तव्य हो जाता है; कि हम भी उन मरते हुए, कष्ट पाते हुए, भूखे, प्यासे या बीमार लोगो के साथ वैसा ही व्यवहार करे। इस कर्तव्य का पालन करना, आत्मा के स्वाभाविक धर्म का पालन करना है, परन्तु तेरह-पन्थ सम्प्रदाय की मान्यताएँ आत्मा के इस स्वाभाविक धर्म को भी नष्ट करती हैं और इसमे भी पाप बताती हैं। प्रकारान्तर से मानव मे से मानवता को ही नष्ट करती है।

अपनी मान्यताओं को तेरह-पन्थी लोग भी जैन शास्त्रानुसार बताते हैं, परन्तु यह हम अगले प्रकरणों में बतावेंगे कि तेरह-पन्थ की मान्यताएँ जैन शास्त्रानुसार नहीं है किन्तु जैन शास्त्रो के नाम पर कलंक लगाने वाली हैं। यह बात श्रावकों को ज्ञात न हो जावे, श्रावक लोग शास्त्र की उन बातों को न जान सकें, इस उद्देश्य से तेरह-पन्थी साधुओं ने श्रावकों का सूत्र पढना ही जिनाज्ञा के बाहर बतलाया है और जिनाज्ञा से बाहर के समस्त कार्य, वे पाप ही मानते हैं। इस प्रकार तेरह-पन्थी साधु, श्रावको

का सूत्र पढ़ना पाप कहते है। यह बताने के लिए तेरह-पन्थ के सैद्धान्तिक ग्रन्थ 'भ्रम विध्वंसन' मे 'सूत्र पठनाधिकार' नाम का एक पूरा अध्याय ही दिया गया है। तेरह-पन्थियो ने केवल अपनी मान्यताओ की असत्यता से श्रावको को अनभिज्ञ रखने के उद्देश्य से ही ऐसा किया है। श्रावको के लिए धर्म-शास्त्र का पठन पाप है, तेरह-पन्थियो का यह सिद्धान्त भी समस्त धर्मों, सम्प्रदायों या मजहबों के विरुद्ध है। इस सम्बन्ध मे तेरह-पन्थियों के द्वारा दिये गये प्रमाण, युक्ति आदि बिल्कुल व्यर्थ से हैं, इसीलिए हमने उनकी आलोचना या उनका खण्डन करना आवश्यक नहीं समझा है। तेरह-पन्थी साधुओं का श्रावको के लिए सूत्र पठन का निषेध, इतना तो स्पष्ट करता ही है कि तेरह-पन्थी साधु अपने सिद्धान्तों और अपनी मान्यताओ को अन्ध श्रद्धा के सहारे मनवाना चाहते हैं। खैर!

हमको तेरह-पन्थी लोगो से किसी प्रकार का द्वेष नहीं है। संसार के लाखो साधु, गृहस्थों के आश्रय में निर्वाह करते है, उसी प्रकार तेरह-पन्थी साधु भी करें, इसमे हमारे लिए क्या आपत्ति हो सकती है? ऐसा होते हुए भी हमको उनके विरुद्ध जो कुछ लिखना पड़ा है, उनके सिद्धान्तों की जो आलोचना करनी पड़ी है, उनकी मान्यताओ का जो खण्डन करना पड़ा है, वह केवल इस कर्तव्यवश कि तेरह-पन्थी साधु अपने सिद्धान्त

को पवित्र जैन धर्म के नाम से लोगो को बनाते है, इसलिए जैन धर्म के नाम पर लगते हुए कलंक को मिटाने का प्रयत्न करना हमारा एक साधारण कर्तव्य हो जाता है । इस पुस्तक विषयक हमारा प्रयत्न लोगो को तेरह-पन्थ के सिद्धान्तो से परिचित करने और तेरह-पन्थी साधुओ की कुयुक्ति-चक्र से बचाने मे सहायक हो, इसीलिए है, अन्यथा उनके व्यक्तित्व से तो मैत्री ही है।



॥ श्री ॥

जैन दर्शन

श्वेताम्बर तेरह-पन्थ

मंगलाचरण

जयइ जगजीवजोणि, वियाणओ जगगुरु जगाणंदो ।
जगणाहो, जगबन्धु, जयइ जगप्पियामहो, भयवं ॥ १ ॥

भावार्थ—पंचास्ती कायात्मक लोकवर्ती जीवो की उत्पत्ति के स्थान को जानने वाले, जगद्गुरु, जगत को आनन्द देने वाले, (त्रि) जगत के नाथ. प्राणि-मात्र के बन्धु और जगत् के पितामह अर्थात्–प्राणियों का जो रक्षण करता है, वह धर्म उन प्राणियो का पिता है और उस धर्म को भी भगवान तीर्थङ्कर प्रकट करते है, इसलिए प्रभु इस जगत के पितामह हैं । वे समग्र ज्ञानादि गुणो से युक्त भगवान महावीर सदा जयवन्त हो और उनका शासन भी सदा जयवन्त हो ।

इस अनादि अनन्त संसार-सागर मे परिभ्रमण करते हुए भव्य प्राणियों के कल्याणार्थ अनन्त भावदया से परिपूर्ण है आत्मा जिनका, ऐसे भगवान महावीर ने मोक्ष मार्ग का विधान करते हुए सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र की आराधना करने का उपदेश किया है, परन्तु भगवान महावीर सर्वज्ञ होने से संसारी जीवो में क्षयोपशम की विचित्रता को जानकर ज्ञान-दर्शन की आराधना मे, साधु और श्रावक का भेद न करते हुए तथा चारित्र आराधना मे, साधु और श्रावको का भेद बतला कर पात्रानुसार, साधु व श्रावक के आचरण का पृथक् पृथक् विधान किया है। जैसे—

"धम्मे दुविहे पनत्ते तंजहा–आगार धम्मे चेव-अणगार धम्मे चेव" (श्री स्थानांग सूत्र–द्वितीय स्थान)

अर्थ—धर्म दो प्रकार का प्ररूपा है—आगार यानि गृहस्थ के आचरण करने योग्य धर्म और अणगार यानि ग्रह-त्यागी साधु के आचरण करने योग्य धर्म। दोनो धर्मो की विशिष्ट व्याख्या करते हुए, आगार धर्म-द्वादश प्रकार का और अणगार धर्म-पांच प्रकार का बतलाया है। दोनो के कल्प, स्थिति और मर्यादा जुदी जुदी कायम की गई है, उन२ मर्यादाओ में रहकर क्रिया अनुष्ठान का आसेवन करे तो वे दोनों ही अपने २ धर्म के आराधक होते है; किन्तु मर्यादा का उल्लंघन करके आसेवना करे, क्रिया अनुष्ठान

करे तो वे आराधना के बदले विराधना कर बैठते है, परन्तु आश्चर्य यह है कि उन्हीं भगवान के शासन मे अपने को मानने वाले जैन श्वे० तेरह-पन्थी लोग-गृहस्थ और साधु का आचरण रूप धर्म एक ही बताते हैं और कहते है कि—

जो काम साधु नहीं करे, वह काम श्रावक के लिए भी करने योग्य नही है यदि वह करता है तो पाप करता हे। कहते है कि-

अनुकम्पा साधु करे, तो नवा न बांधे ।
तिण मांहि ी ावक करे, ो तिणने पिण होसी धर्म ॥
ाधु श्रावक दोनां तणी, ए अनुकम्पा ।
अमृत सहु ने सारिखो, तिणरी मकरो ताण ।

('अनुकम्पा' ढाल दूसरी)

साधु श्रावकनी एक रीति तुम जोवो सूत्ररो न्याय रे।
दे ो अन्तर मांहि विचारने, ड़ी काहे रो ताण रे॥

('अनुकम्पा' ढाल तीसरी)

इन और ऐसे ही अन्य कथनों द्वारा तेरह पन्थी लोग यह कायम करना चाहते है कि साधु और श्रावक का एक ही आचार है, एक ही रीति है, एक ही अनुकम्पा है। ऐसा ठहरा कर फिर वे साधु के बहाने से जीव रक्षा आदि मे भी पाप बताते है, परन्तु यह सिद्धान्त उनका बिलकुल गलत है। जीव-रक्षादि कार्य शुभ परिणामो के द्वारा होते है। अतः शुभ परिणामो मे, किसी भी

पाप प्रकृति का बन्ध हो ही नहीं सकता। भगवान महावीर ने तो साधु और श्रावक का आचरण रूप धर्म दो प्रकार का स्पष्टतया बतलाया है, दोनों के कल्प मर्यादाएँ तथा प्रवृत्तिएँ भी पृथक् २ बतलाई है—

अनेक कार्य ऐसे है जिन्हें; साधु तो कर सकता है, जिनका न करना साधु के लिए पाप माना जाता है, परन्तु गृहस्थ नहीं करता है और गृहस्थ का न करना, पाप नहीं माना जाता। इसी प्रकार बहुत से कार्य ऐसे है, जिन्हे गृहस्थ श्रावक तो करता है परन्तु साधु नहीं कर सकता और उन कामो को नहीं करने पर भी साधु को पाप नही लगता। उदाहरण के लिये—साधु यदि भोजन सामग्री रात–बासी रखता है तो उसको पाप लगता है। इतना ही नहीं व्रत भंग भी होता है और संयम की भी विराधना होती है, परन्तु गृहस्थ रखता है फिर भी उसे दोष नही लगता। इसी प्रकार यदि गृहस्थ श्रावक भोजन के समय यदि अतिथि संविभाग की भावना नही करता है तो उसे व्रतभंग रूप पाप लगता है, क्योंकि आतिथ्य सत्कार करना गृहस्थ जीवन का एक साधारण किन्तु मुख्य धर्म है, परन्तु साधु लोग अतिथि संविभाग नहीं कर सकते। कारण, साधु होते समय, सासारिक भोगोपभोग की सर्व वस्तुओ का उन्होंने त्याग कर दिया है। जो अन्न वस्त्रादि गृहस्थ के यहा से वे लाते है वे अपने खुद के या अपने संभोगी

साधु के जीवन निर्वाहार्थ ही लाते है। इसलिये उन्हे दूसरे को देने का अधिकार नही है। यदि उन वस्तुओं से वे दूसरे अतिथियो का सत्कार करते है तो उन्हे व्रतभंग रूप पाप लगता है। इस प्रकार साधु और श्रावक का आचरण एक हो नहीं सकता।

गृहस्थ और गृहत्यागी, विरक्त और अनुरक्त दोनो का आचरण एक होना, भिन्नता का न होना कदापि संभव नहीं। साधु की कल्प मर्यादा जुदी है और श्रावक की जुदी। साधु मे भी जिन-कल्पी और स्थविर-कल्पी का आचार-मर्यादा एक नही किन्तु भिन्न है। जो वैयावच्चादि कार्य स्थविर-कल्पी कर सकते है वे जिन-कल्पी नहीं कर सकते और जो जिन-कल्पी कर सकते है वे स्थविर-कल्पी नही करते; तब साधु और श्रावक की समानता कैसे हो सकती है? तेरह—पन्थी लोग कहते है कि साधु और श्रावक की अनुकम्पा एक है और रीति भी; परन्तु, यदि दोनो की रीति और कर्तव्य एक ही हो तो साधु सुपात्र और श्रावक कुपात्र कैसे हो सकते है? वे लोग श्रावक को कुपात्र क्यो कहते है? वे अपने दोनों ग्रन्थ-'अनुकम्पा की ढाले' तथा 'भ्रम विध्वंसन' मे श्रावक को कुपात्र कहते है। उनसे यदि पूछा जावे कि श्रावक सुपात्र है कि कुपात्र? तो तेरह-पन्थी लोग श्रावक को सुपात्र कभी नही कहेगे। ऐसी दशा में साधु और श्रावक की एक रीति, एक आचार और एक व्यवहार कैसे हो सकता है? भिन्न ही रहा

और भिन्न ही रहेगा। भिन्न रहते हुए भी यदि अपने२ कर्तव्य का पालन करे तो दोनो मोक्ष-मार्ग के पथिक है।

श्रावक संसार व्यवहार मे रहते हुए, सावधानी-पूर्वक व्रतों की मर्यादा को कायम रखकर संसार के सभी व्यवहारो मे प्रवृत्ति कर सकता है, गृह व्यवस्था संभाल सकता है और आत्म आराधना भी कर सकता है; विवेक पूर्वक कार्य करे तो आश्रव के स्थान में संवर भी निपजा लेता है परन्तु जो साधु धर्म अंगीकार करता है, वह संसार त्याग कर सम्पूर्ण निवृत्ति करता है तभी साधु धर्म की आराधना हो सकती है अन्यथा नहीं। वह संसार व्यवहार के कोई कार्य मे भाग नहीं ले सकता है। इस प्रकार श्रावक धर्म और साधु धर्म की कल्प मर्यादाएँ भिन्न २ हैं अपने २ कल्प-मर्यादानुसार हरएक को अपनी प्रवृत्ति रखनी चाहिये। ऐसी प्रवृत्ति रखते हैं वे अपने २ धर्म के आराधक है।

अब हम तेरह-पन्थी आम्नाय के सिद्धान्तो (मान्यताओ) का संक्षेप मे यहां दिग्दर्शन कराकर, आगे प्रकरण-बद्ध उन मान्यताओ एवं उनकी दलीलो का न्याय पूर्वक उत्तर देगे, यहा तो संक्षेप मे पूर्व पक्ष का दिग्दर्शन कराया जाता है।

तेरह–पन्थी लोगों का एक सिद्धान्त यह है कि–एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चोरेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय यानी संक्षेप मे त्रस और स्थावर सभी प्राणि समान हैं। अतः एक त्रस प्राणि की

रक्षा के लिए अनेकों स्थावर प्राणियो की हिंसा क्यो की जावे? जैसे—किसी को भोजन दिया या पानी पिलाया, तब रक्षा तो एक आत्मा की हुई, परन्तु इस कार्य मे असंख्य और अनन्त स्थावर जीवों का संहार हो जाता है, वह पाप उस जीव-रक्षा करनेवाले को होगा। इतना ही नहीं किन्तु जो जीव बचा है, उसके जीवन भर खाने पीने अथवा अन्य कामो में जो हिंसा त्रस-स्थावर जीवों की होगी, वह हिंसा भी उसी को लगेगी, जिसने उसको मरने से बचाया है।

दूसरा सिद्धान्त यह है कि—जो जीव मरता है अथवा कष्ट पा रहा है वह अपने पूर्व संचित कर्मों का फल भोग रहा है उसको मरने से बचाना अथवा उसको सहायता करके कष्ट-मुक्त करना, अपने खुद पर का वह कर्म-ऋण चुकाने से उसको वंचित रखना है, जिसे वह मरने या कष्ट सहने के रूप मे भोगकर चुका रहा था।

तीसरी मान्यता यह है कि—साधु के सिवाय संसार के समस्त प्राणी कुपात्र है। कुपात्र को बचाना, कुपात्र को दान देना कुपात्र की सेवा–सुश्रूषा करना, सब पाप है।

इन्हीं दलीलों (मान्यताओं) के आधार पर तेरह-पन्थी लोग दया और दान को पाप बताते हैं; और इन्हीं सिद्धान्तों की दृढता के लिये वे कहते हैं कि—

(१) भगवान महावीर ने गौशालक को बचाया, यह उनकी भूल थी। वे छदमस्त थे, इसलिये उनसे यह भूल हुई।

(२) भगवान पार्श्वनाथ ने आग में जलते हुए नाग नागिन को बचाये, यह कार्य उनका पाप रूप था।

(३) हरिणगमेषी देव ने, देवकी महारानी के छः पुत्रो को बचाकर पाप उपार्जन किया।

(४) धारिणी राणी ने, मेघकुमार जब गर्भ मे थे, तब मेघकुमार की रक्षा के लिये खान पानादि मे जो संयम किया, वह पाप था।

(५) भगवा. श्री अरिष्टनेमि के दर्शन के लिए जाते समय श्रीकृष्ण वासुदेव ने एक वृद्ध पुरुप पर अनुकम्पा करके उसकी ईंट उठाई, वह पाप का कार्य था।

(६) भगवान श्री ऋपभदेव ने, जो समाज-व्यवस्था स्थापित की, वह कार्य भी पाप था।

(७) भगवान तीर्थकरों के द्वारा दिया गया वार्पिक दान भी पाप था।

(८) महाराणा मेघरथ ने, कबूतर को बचाया, यह भी पाप का कार्य था।

(९) राजा श्रेणिक का, जीवहिंसा न करने के संबंध मे 'अमारी पड़ह' की घोषणा करना भी पाप है।

(१०) राजा प्रदेशी का, दानशाला खोलने का कार्य भी पाप-रूप था।

इस प्रकार वे जैन-शास्त्र की उन समस्त बातो को पाप ठहराते हैं कि जो बातें जैन-शास्त्रों के लिए आदर्श और भूषण रूप है तेरह-पन्थी साधुओ ने अपने सुख, अपनी सुविधा और अपनी रक्षा के सब मार्ग खुले रक्खे है। जैसे—

(क) विहार करते समय, रास्ते की सेवा के नाम से ग्रहस्थो को साथ रखना और उसमें महा लाभ बताना।

(ख) गृहस्थ श्रावक अपनी आवश्यकता से अधिक भोजन बनाकर भावना के नाम से आमंत्रण देवें और साधु लोग उनके साथ जाकर बगैर छानबीन किये ही ले आवे।

(ग) गृहस्थों को, सेवा में रहने के लिये त्याग कराना और वारीसर उनको सेवा में रखना।

इन सब मे धर्म एवं महा लाभ बताया है परन्तु अपने से सम्बन्धित कार्यों के सिवाय शेष समस्त कार्यों को वे पाप ही पाप बताते है, किसी भी कार्य मे धर्म अथवा पुण्य नहीं मानते।

जो ऊपर दस बातें बताई हैं उन कार्यों में तेरह-पन्थी लोग धर्म व पुण्य नहीं मानते, किन्तु पाप ही बताते है। कोई उन्हे पूछे कि ये काम पाप के क्यो है ? तो छल-पूर्ण इधर—उधर की बातें करेगे और प्रश्न को टालने का प्रयत्न करेगे, जिससे इन कार्यों

मे स्पष्ट पाप नहीं कहना पड़े। ये लोग अपने छल-कपट के लिए प्रसिद्ध ही है। उनको दिन रात ऐसी बातें करने की शिक्षा मिलती रहती है कि जिससे वे दूसरों को अपने जाल मे फॅसाले, परन्तु स्वयं किसी बात की पकड़ मे न आवें। कदाचित कोई उन्हे किसी बात मे पकड़ लेगा, तो उस वक्त वे या तो यह बहाना लेगे कि—

(१) इस विषय के लिये शास्त्र मे बहुत देखना पड़ेगा, बिना देखे क्या कहे।

(२) आज तो अब समय होगया है, इसलिए पूरा उत्तर नही दे सकते। क्योकि इस बात का उत्तर बहुत लम्बा है।

साधारण आदमी से तो वे ऐसा कहकर पिण्ड छुड़ा लेते है, परन्तु वे देखते है कि यह आदमी हमारा पिण्ड छोड़ने वाला नही है तब वे उससे सदा के लिये अपना पीछा छुड़ा लेने को कह बैठते है कि आप तो हमारी आशातना करते है। इसलिये हम आपसे बात नहीं करते।

ये ही तीन मार्ग किसी जानकार से अपना पीछा छुड़ाने के है।

संक्षेप मे इन लोगो की स्थूल स्थूल मान्यताओं का दिग्दर्शन कराया गया है। अब अगले प्रकरणो मे इनकी मान्यताओ का उत्तर पक्ष करके विशद रूप से निराकरण करेगे।



त्रस और स्थावर जीव समान नहीं है।



अब हम तेरह पन्थियो के उन सिद्धान्तो पर प्रकाश डालते है जिनके आधार पर तेरहपन्थी लोग प्राणी रक्षा तथा अनुकम्पा करके दिये गये दान मे पाप बताते है। यह तो बताया ही जा चुका है कि साधु और श्रावक का आचार एक नहीं है। उनकी दूसरी दलील यह है, कि एकेन्द्रिय से लगाकर पंचेन्द्रिय तक के जीव समान है। इसलिए एकेन्द्रियादिक जीवों की हिंसा करके पंचेन्द्रिय की रक्षा करना धर्म या पुण्य कैसे हो सकता है ? वे कहते है कि—

जीव मारी जीव रा णा, सूत्र हीं हो भगवन्त बयन।
ऊँधो पंथ गुरु चलावियो, द्धू न झे हो फूटा र नयन॥

'अनुकम्पा ल ७वीं'

अर्थात—जीव मारकर जीव की रक्षा करने के लिए सूत्र मे भगवान के कोई वचन नहीं है, किन्तु यह उल्टा मार्ग

कुगुरुओ का चलाया हुआ है, जिनकी अभ्यन्तर आंखे फूटी हुई है और जिन्हे शुद्ध मार्ग नहीं दिखता ।

रांका ने मार धींगा ने पोसे, आतो वात दीसे घणी गेरी ।
इण मांहि दुष्टी धर्म प्ररुपे तो, रांक जीवां रा उठिया वेरी ॥

('अनुकम्पा' ढाल १२वी)

अर्थात—गरीबो [स्थावरो] को मार कर सशक्त (त्रस) का पोपण करना बहुत बुरी बात है, परन्तु गरीबो [स्थावरो] के शत्रु दुष्ट लोग ऐसे खडे हुए हैं कि इस कार्य मे भी धर्म बताते है ।

जीवां ने मार जीवां ने पोषे ते तो मार्ग संसार नो जाणोजी ।
तिण मांही साधु धर्म बतावे ते पूरा मूढ अयाणोजी ॥
छःकाय रा शस्त्र जीव असंयती त्यांरो जीवणो मरणो न चावेजी।
त्यांरो जीवणो मरणो साधु चावे तो राग द्वेष वेहूं आवेजी॥

('अनुकम्पा' ढाल ९वीं)

अर्थात—ऐसा कहते है कि एकेन्द्रिय जीवो को मारकर पंचेन्द्रिय जीवो का पोषण करना संसार का पाप पूर्ण कार्य है । यदि इस तरह के कार्य को कोई साधु धर्म बताता है, तो वह पूरा मूर्ख और अज्ञानी है । अव्रती जीव (साधु के सिवाय संसार के सभी जीव) छः काय के जीवो के लिए अस्त्र के समान है । इसलिए अव्रती को जीवित रखने या मारने की इच्छा तक

न करनी चाहिये। अन्नी का जीवित रहना या मरना जो साधु चाहता है, उसको राग और द्वेष दोनो ही लगते है। *

इन और ऐसे ही दूसरे कथनो द्वारा तेरह-पन्थी साधु एकेन्द्रिय [पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीव] तथा पंचेन्द्रिय [मनुष्य, गाय, हाथी, घोडा आदि] को समान सिद्ध करते हैं और कहते हैं कि पंचेन्द्रिय की रक्षा करने में एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा होती है, इसलिए रक्षा करना पाप है। जो पंचेन्द्रिय जीव बचा है, उसको बचाते समय भी एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती है, और वह जीवित रहकर भी एकेन्द्रिय जीव [अन्न, जल, वनस्पति, वायु आदि] की खान–पान श्वासोच्छ्वास द्वारा हिंसा करेगा। इसलिए किसी भी जीव को बचाना पाप है।

तेरह-पन्थी लोग एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय को समान बताते है परन्तु वास्तव मे उनका यह कथन असंगत है। स्वयं तेरह-पन्थी लोग एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय को समान बताते हुए भी एकेन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय को महत्व देते है तथा पंचेन्द्रिय

---

* यह न भूलना चाहिए कि तेरह-पन्थी लोग साधु और गृहस्थ का आचरण एक बताते है और इसीलिए जो कार्य साधु के लिए निषिद्ध है, वही गृहस्थ श्रावक के लिए भी निषिद्ध है, ऐसा सिद्धान्त कायम करते है।

की रक्षा और पंचेन्द्रिय के हित के लिए एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा खुद करते है। गृहस्थ को तो केवल त्रसकायिक हिंसा का ही त्याग होता है, परन्तु साधु को तो जीव मात्र-छहों काय के जीवो की हिंसा का त्याग है। ऐसा त्याग होने पर भी वे पंचेन्द्रिय के हित और पंचेन्द्रिय की रक्षा के लिए एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा करते है। जो बताया जाता है।

शास्त्रानुसार हाथ-पैर के हिलने मात्र से वायुकायिक असंख्य जीव नष्ट होते हैं। यह बात तेरह-पन्थियो को भी स्वीकार है। ऐसा होते हुए भी वे प्रतिलेखन (वस्त्र पात्रादि का) करते है, यह क्यो ? वस्त्र पात्रादि का प्रतिलेखन करके उसमे रहे हुए त्रसकायिक जीवो को ही बचाया जाता है या और कुछ ? प्रतिलेखन करने का उद्देश्य ही क्या है ? यदि त्रसकायिक जीवों की रक्षा करना उद्देश्य नहीं है तो फिर प्रतिलेखन ही क्यों किया जाता है और वायुकायिक जीवों की व्यर्थ हिंसा क्यों की जाती हे ? प्रतिलेखन करते हुए त्रस जीवो को वस्त्रादि मे से अलग किया जाता है, इससे स्पष्ट है कि त्रस जीवो की रक्षा के लिए ही प्रतिलेखन किया जाता है, परन्तु प्रतिलेखन करने में कितने वायुकायिक जीवो की हिसा हुई ? तब आपने असंख्य वायू-कायिक जीवो की हिसा द्वारा कुछ थोड़े से त्रस जीवों को ही बचाया या और कुछ किया ?

यदि तेरह-पन्थी लोग यह कहे, कि प्रतिलेखन करना हमारा धार्मिक कृत्य है, और इस कृत्य को नित्य दोनों समय करने के लिए भगवान की आज्ञा है, इसलिए हमको करना पड़ता है। तथा इसमे वायुकाय के जीवो की जो हिंसा होती है, वह क्षम्य अथवा नगण्य है; तो हम उनसे पूछते है कि भगवान की आज्ञा होने पर भी, अथवा प्रतिलेखन के कार्य की वायुकायिक हिंसा नगण्य एवं क्षम्य होने पर भी वायुकायिक जीवो की हिंसा तो हुई या नही ? और यह हिंसा त्रसकायिक जीवो को बचाने के लिए ही हुई या और किसी लिए ? तथा इस प्रकार आपने अथवा भगवान ने वायुकाय के एकेन्द्रिय जीवो की अपेक्षा उस-काय के जीवो को बडे माने या नहीं ?

तेरह-पन्थी साधु कहें कि प्रतिलेखन करने का उद्देश्य हमारा त्रसकायिक जीवो को बचाना नहीं है, किन्तु हमको अपने वस्त्र, पात्र या शरीर द्वारा होनेवाली हिंसा से बचना है।

बहुत ठीक, त्रस जीवों की हिंसा से बचने के लिए ही सही, वायुकायिक जीवो की हिंसा तो हुई या नहीं ? असंख्य वायुकायिक जीवो की हिंसा करने पर ही आप थोडे से त्रस जीवो की हिंसा से अपने को बचा सके न ? फिर एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय बराबर कैसे रहे ?

यदि आपके नेश्राय में वस्त्र—पात्र है, इसलिए उनके द्वारा

होने वाली हिंसा का पाप आपको लग सकता है, और आप उस पाप से बचने के लिए ही असंख्य वायुकायिक जीवों की हिंसा करते हैं, और अपना पाप टालने के लिए आपने जिस जीव को बचाया है, उसके बचने का पाप आपको नहीं लगा, तो क्या आप गृहस्थ के लिए भी ऐसा मानते हैं? मान लीजिये कि एक गृहस्थ ने एक कुआ खुदवाया। उस कूंए में एक गाय गिर गई। गृहस्थ ने उस गाय को कूंए में से निकाल कर अपना पाप टाला और उसकी रक्षा की; तो आपके सिद्धान्तानुसार उस गृहस्थ को कोई पाप तो नहीं हुआ? * यदि पाप हुआ, तो आपने प्रतिलेखन द्वारा जिन जीवों को बचाया, उन जीवों के बचने से आपको पाप क्यों नहीं हुआ?

---

* सरदार शहर में सोहनलालजी बरडिया नाम के एक सज्जन हैं जो कट्टर तेरह पन्थी श्रावक थे। सन १९२८-२९ के लगभग वे अपना एक मकान बनवा रहे थे। मकान बनाने के लिए पानी भरने के वास्ते उन्होंने मकान के सामने एक हौज बनवाया था। उस हौज में पानी भरा हुआ था। एक बछिया (गाय की बछड़ी) उस हौज में गिर गई और तड़फड़ाने लगी। सोहनलालजी भी वहां मौजुद थे। उन्होंने स्वयं अपने मजदूरों की सहायता से उस बछिया को निकाल दिया। कुछ दूसरे लोग जो तेरह-पन्थी नहीं थे वहां पर मौजूद थे। उन्होंने सोहनलालजी से कहा कि आपके धर्मानुसार तो आपका बछिया को निकाल देने का कार्य पाप हुआ। सोहनलालजी ने कहा कि पाप क्यों हुआ? मैंने बछिया को कष्ट तो दिया ही नहीं है बल्कि कष्ट से बचाया ही है।

और सुनिये ! आप रजोहरण क्यो रखते हैं ? पैर के नीचे कोई त्रस जीव आकर दब न जावे, इसीलिए या और किसी कार्य के लिए ? परन्तु रजोहरण हिलाने में वायुकायिक जीवों की हिंसा होती है या नहीं ? असंख्य वायुकायिक जीवों की हिंसा करके तब कहीं आप थोड़े से त्रस जीवों को बचा पाते है। ऐसी दशा में एकेन्द्रिय जीवो की अपेक्षा त्रस जीवों का महत्व अधिक रहा या नहीं ? त्रस जीवों की रक्षा के लिए एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा कीगई या नहीं ?

मोहनलालजी के बाप-दादा तेरह पन्थी श्रावक थे, इसी से सोहनलालजी भी तेरह-पन्थी श्रावक कहलाते थे, परन्तु वास्तव में तेरह पन्थ के सिद्धान्त क्या और कैसे हैं ? यह उनको पता न था। लोगो ने सोहनलालजी से कहा कि आप हम पर नाराज मत होइए, किन्तु तेरह-पन्थ सम्प्रदाय के आचार्य, पूज्य श्री कालूरामजी महाराज यहीं पर विराजते हैं, उन्हीं से जाकर पूछ लीजिये। सोहनलालजी बरड़िया उसी समय श्री कालूरामजी महाराज के पास गये। उन्होंने श्री कालूरामजी महाराज को समस्त घटना कह सुनाई और प्रश्न किया कि केरडी के बचा देने से मुझे धर्म हुआ या पुण्य अथवा पाप हुआ ? श्री कालूरामजी महाराज ने कहा कि न धर्म हुआ, न पुण्य हुआ, किन्तु पाप हुआ। सोहनलालजी ने कहा कि ऐसा क्यों ? मैने उस केरडी को कोई दुख तो दिया ही नहीं है, फिर मुझे पाप क्यों हुआ ? श्री कालूरामजी ने कहा कि वह केरडी जिसे तुमने बचाई है. खायेगी, पीयेगी, जिसमे असंख्य जीवों की हिंसा होगी, फिर वह मैथुन का पाप करेगी, उसकी सन्तान होगी, वह भी खायेगी, पियेगी और मैथुनादि पाप करेगी। इस प्रकार

तीसरी दलील सुनिये। तेरह-पन्थी साधु से यदि यह प्रश्न किया जावे कि आप विहार करके यहां क्यो आये है ? तो वे यही कहेगे कि धर्म प्रचार के लिए, अथवा लोगो को शुद्ध धर्म बताने के लिए, या अपने गुरु की आज्ञा पालन करने के लिए ।

उन केरडी के कारण पाप की जो परम्परा चलो, वह तुम्हे भी लगेगी।

उस दिन सोहनलालजी को अपने धर्म का असली स्वरूप ज्ञात हुआ उन्होंने श्री कालूरामजी महाराज से कहा कि आप अपने धर्म को अपने पास ही रखिये, मुझे आपका यह धर्म नही चाहिए । मै तो धर्म का सार यह समझता था कि—

"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत ।" अर्थात्—

जो अपने आत्मा को बुरा लगता है, वह व्यवहार दूसरों के साथ न करो, किन्तु दुसरे के साथ भी वह व्यवहार करो जो अपने आत्मा को अच्छा लगता है।

इसके अनुसार यदि मैं पानी मे डूबने लगता तो यही चाहता कि कोई मुझे बचाले। यही बात वह केरडी भी चाह रही थी। फिर मैंने बचा दिया तो मुझे पाप कैसे होगया ? कदाचित किसी दिन मैं भी पानी मे डूबने लगूँ और कोई आपके सिद्धान्त का अनुसरण करके मुझे न निकाले तो मुझे कितना दुःख होगा। इसलिए आज से मै तेरह पन्थ सम्प्रदाय को त्यागता हूं। मै किसी धर्म का अनुयायी न रहना तो अच्छा मानूगा परन्तु तेरह-पन्थ का अनुयायी कदापि न रहूंगा।

उस दिन से सोहनलालजी ने तेरह-पन्थ सम्प्रदाय को सदा के लिए त्याग दिया।

—लेखक

परन्तु आप यहां इतनी दूर चल कर आये, इसमें कितने वायु-कायिक एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा हुई ? साथही थोड़ी बहुत अन्य स्थावर तथा त्रस जीवों की भी हिंसा हुई होगी। यह हिंसा आपने किसके हित के लिए की ? आपका धर्म कौन सुनेगा ? आपके धर्म से किसको लाभ होगा ? मनुष्य ही सुनेंगे या एकेन्द्रिय जीव भी ? आपके धर्म से यदि कुछ लाभ होगा तो मनुष्य को ही होगा या एकेन्द्रियादि जीवों को ? उनके लाभ के विषय मे तो आप स्पष्ट कहते हैं—

केइक अज्ञानी इम कहे, छः काया का जे हो देवां धर्म उपदेश। एकण जीव ने स झावियां, मिट जावे हो घणा जीवां रा कलेश। छः काय घरे शान्ति हुवे, एहवा भाषे हो अन्य तीर्थी धर्म। त्यां भेद न पायो जिन धर्म रो ते तो भूल्या हो उदय आया अशुभ कर्म॥

('अनु ढा ५वीं')

इस कथनानुसार आपका उपदेश और किसी के कल्याण के लिए तो है ही नहीं। केवल उन्हीं के कल्याण के लिए हो सकता है, जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप स्वीकार कर सकते है और ऐसा मनुष्य ही कर सकते है। इस प्रकार आपका आगमन केवल मनुष्यों के हित के लिए ही रहा न ? परन्तु मनुष्यों के

हित के लिए आपने कितने एकेन्द्रिय और त्रस जीवों की हिंसा की ? चाहे आपको विहार, धर्म-प्रचार आदि के लिए गुरु या भगवान की आज्ञा भी हो, परन्तु आज्ञा होने के कारण वायुकायिक आदि जीवों की हिंसा को अहिंसा तो नहीं कही जा सकती। यदि ऐसी हिंसा अहिंसा हो, तो फिर इरियावही क्रिया ही क्यो लगे ? है तो वह हिंसा ही, जो मनुष्यों के हित के लिए चाहे कीगई हो। इस प्रकार आपने या भगवान ने एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवो मे भिन्नता मानी या नहीं ? एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय अथवा स्थावर और त्रास समान तो नहीं रहे न ? यदि समान ही हो तो थोड़े से मनुष्यो के हित के लिए वायुकायादि के असंख्य जीवो की हिंसा क्यो की जावे ?

चौथी दलील देखिये ! तेरह—पन्थी साधु आहार पानी के लिये इधर उधर घूमते है, तथा आहार पानी करते हैं इस कारण दिशा जंगल भी जाना पड़ता है। इस आवागमन में तथा श्वासोच्छ्वास लेने मे असंख्य वायुकायिक जीवों की हिसा होती है, या नहीं ? यह हिंसा वे क्यों करते हैं ? यदि साधु होते ही वे संथारा कर लेते तो यह हिंसा तो बच जाती या नहीं ? इतने जीवों की हिंसा करके वे अपने एक मानव शरीर की रक्षा करते हैं या और कुछ करते है ? यदि एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव समान है, तो फिर एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा से बचने के लिए संयम

लेते ही संथारा कर लेना चाहिये था। भगवान ने भी जीवों की दया के लिए संथारा करने—आहार पानी त्याग कर एक स्थान पर पड़े रहने की आज्ञा दी है। संथारे को आप भी पाप तो नही मानते, किन्तु धर्म ही मानते है। और आप कहते है—

जो अनुकम्पा साधु करे तो उपदेश दे वैराग्य चढावे। चोखे चि पेलो हाथ जोड़े तो चारों ही आहार रो त्याग करावें ॥

('अनुक ढा पह ी')

अर्थात—साधु यह अनुकम्पा करते है, कि उपदेश देकर वैराग्य चढाते हैं और यदि वह व्यक्ति प्रसन्नता से हाथ जोड़ता है, तो उसको चारो ही आहार का त्याग कराते हैं।

इस प्रकार अनुकम्पा करके साधु दूसरे को चारों आहार का त्याग कराते है, तो स्वयं ही अंनुकम्पा के लिए साधु होते ही संथारा क्यो नहीं कर लिया करते? यदि कहा जावे कि समय से पहले संथारा करने की भगवान की आज्ञा नहीं है, तो क्यों नहीं है? जीवित रहने से वायुकायिकादि जीवों की हिंसा होती है, यह जानते हुए भी भगवान ने समय से पहिले संथारा करने की आज्ञा नहीं दी, तो उन्होने क्यों आज्ञा नहीं दी? क्या वे चाहते थे, कि वायुकायिकादि जीवो की हिंसा की जावे! जब उन्होंने वायुकायिकादि जीवो की हिंसा को जानते हुए भी समय

से पहले संथारा करने की आज्ञा नहीं दी, तो इससे स्पष्ट है, कि उन्होंने असंख्य एकेन्द्रिय जीवो की अपेक्षा 'मनुष्य-जीवन को अधिक माना है और तेरह-पन्थी साधु भी ऐसा ही मानते हैं, तभी तो इतनी हिंसा करके भी जीवित रहते हैं, ।

अब पांचवीं दलील सुनिये ! साधु जब एक जगह से दूसरी जगह जाते है, तब यदि मार्ग मे, नदी आती हो, तो उस नदी को पार करते है । यदि नदी में नाव लगती हो, तब तो नाव के द्वारा नदी पार करते हैं और यदि नाव नहीं लगती है, तथा पानी घुटने से नीचे है, तो पानी मे उतर कर पार जाते हैं । चाहे नाव मे बैठकर जावें या पानी मे उतर कर जावें, अपकायिक जीवों की हिंसा तो होती ही है । भगवान ने जल के एक एक बिन्दू मे पानी के असंख्य २ जीव कहे हैं । जल के आश्रित निगोद है, और निगोद में अनन्त जीव भी है । उन जीवो की हिंसा करके साधु, पार जाते है, परन्तु जाते है किसलिए ? लोगो को धर्मो-पदेश सुनाने के लिए ही न ? और उनके द्वारा सुनाये जाने वाले धर्मोपदेश से यदि किसी को फायदा होता है, तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप स्वीकार करने वाले थोडे से मनुष्यो को ही । यदि एकेन्द्रिय जीव और पंचेन्द्रिय जीव समान है, तो फिर असंख्य बल्कि अनन्त जीवो की हिंसा थोडे से मनुष्यों के हित के लिए क्यो की जाती है ? वह एक बार दो बार नहीं, किन्तु

आचारंग सूत्र के अनुसार साधु एक मास में दो वार नदी उतर सकते हैं। ऐसी दशा मे एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव समान कैसे रहे ? यदि समान होते तो क्या भगवान शास्त्र में इस तरह का विधान कर सकते थे ?

छट्ठी दलील भी देखिये ! साधु जब चलते फिरते है, तब वायुकायिक जीवों की भी हिंसा होती है और समय पर जलकाय तथा वनस्पति काय के जीवों की भी। इस तरह से दिन भर प्रत्येक साधु द्वारा असंख्य असंख्य जीवो की हिंसा होजाती है। दूसरी ओर मान लीजिये कि एक साधु के पैर के नीचे आकर एक पंचेन्द्रिय त्रस जीव मर गया। क्या पंचेन्द्रिय के मरने का प्रायश्चित भी उतना ही होगा, कि जितना प्रायश्चित चलने फिरने से मरने वाले वायु, जल और वनस्पतिकायिक जीवों के लिए होता है ? यदि उतना ही प्रायश्चित होता है तो क्यो ? पंचेन्द्रिय त्रस जीव तो एक ही मरा है और वायु, जल, वनस्पति के असंख्य तथा अनन्त जीव मरे हैं। फिर एक तरफ असंख्य जीव का प्रायश्चित समान क्यो है ? और यदि उस त्रस जीव के लिए अधिक प्रायश्चित लेना पडा, तो अधिक क्यो लेना पडा ? जब कि आपकी मान्यतानुसार जीव जीव सब समान है, चाहे एकेन्द्रिय हो, द्वीन्द्रिय हो या पंचेन्द्रिय हो। इन दोनो ही वातों से स्पष्ट है कि स्थावर जीवो की अपेक्षा त्रस जीव का महत्व

अधिक है और एक त्रस जीव की समानता में असंख्य ही नहीं, बल्कि अनन्त स्थावर जीव भी नहीं हो सकते।

सातवीं दलील देखिये ! तेरह-पन्थी लोग एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय को समान तो बताते हैं, लेकिन वे अपने इस सिद्धान्त पर टिक नही सकते। मनुष्य जीवन निर्वाह के लिए नित्य असंख्य और अनन्त एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा करते हैं। अन्न मे भी जीव है, पानी मे भी जीव है, वनस्पति में भी जीव है और अग्नि आदि मे भी। मनुष्य के जीवन-निर्वाह के लिए इस प्रकार की हिंसा अनिवार्य मानी जाती है। कदाचित कोई व्यक्ति तेरह-पन्थियो के सिद्धान्त पर विचार करे और सोचे कि बाजरे, गेहूं या मोठ के एक एक दाने में भी एक एक जीव है और साग तरकारी मे तो असंख्य या अनन्त जीव है, लेकिन एक बकरे मे एकही जीव है, फिर जब एक ही जीव की हिंसा से मेरा काम चल सकता हो, तो गेहूं, बाजरे, मोठ या साग के असंख्य जीवों की हिंसा क्यों की जावे ? इस तरह इनके सिद्धान्त को कोई इस रूप व्यवहार में लाने लगे और गेहूं, बाजरा, मोठ और साग के अनन्त जीवो की हिंसा से बचकर एक ही बकरे की हिंसा से अपना काम चलाने लगे, तो क्या यह ठीक होगा ? कदाचित तेरह-पन्थी कहें कि मांस-भक्षण निषिद्ध है, तो हम उनसे कहेंगे कि मास भी जीव का कलेवर है और गेहूं का आटा भी जीवों

का कलेवर ही है। आपकी दृष्टि में जीव जीव में तो अन्तर है ही नहीं। फिर गेहूं, बाजरे का कलेवर न खाकर बकरे का कलेवर खाने वाले ने तो आपके सिद्धान्तानुसार बहुत जीवों की हिंसा ही टाली है। एक जीव की हिंसा करके असंख्य जीवों की हिंसा से बचा है, फिर आपके सिद्धान्तानुसार उसने क्या बुरा किया ?

इस युक्ति पर से तेरह-पन्थी साधु यह हल्ला मचावेंगे कि जैन होकर इस तरह का उदाहरण देते है। शर्म भी नहीं आती। परन्तु तेरह-पन्थियो को भी शर्म नहीं आती, जो कहते है कि—

(१) कबूतर को दाना डालना पाप है, क्योंकि प्रत्येक दाने में जीव है।

(२) किसी को पानी पिलाना पाप है, क्योंकि पानी की एक एक बूंद में असंख्य असंख्य जीव है।

(३) गायो को घास डालना, लंगड़े अन्धे को रोटी देना और मां बाप की सेवा करना पाप है।

(४) कसाई से गाय को छुडा देना पाप है।

तेरह-पन्थी लोग अपने आपको जैन और भगवान महावीर के अनुयायी बताकर जब इस तरह के और ऐसे ही दूसरे कामो को पाप बताने में नहीं शर्माते, तब उन्हीं के सिद्धान्त पर दी गई दलील के विषय में वे क्यों चिढते है ?

आठवीं दलील सुनिये ! मान लीजिये कि तेरह-पन्थी साधु के पास तीन आदमी आये और कहने लगे कि हम आपके श्रावक होना चाहते है। उन तीनो में से एक आदमी ने कहा कि महाराज ! आप इन दो आदमियों को अपना श्रावक मत बनाइये। ये लोग महान हिंसक है। ये लोग जब महान् हिंसा त्याग कर मेरी तरह अल्प हिंसा से आजीविका करे, तब इनको श्रावक बनाइयेगा। देखिये, इनमे से यह एक आदमी तो गेहूं और बाजरा पीसकर आटा बेचता है ! गेहूं और बाजरे के प्रत्येक दाने में एक एक जीव है, इसलिए यह नित्य प्रति असंख्य जीवो का संहार करता है। यह दूसरा आदमी दिन भर तरबूज काट काट कर बेचता रहता है। वनस्पति मे असंख्य २ जीव है, इसलिए यह नित्य प्रति असंख्य जीवो की हिंसा करता है। लेकिन मै दिन भर मे केवल एक बकरा, पैसे देकर दूसरो से कटवाता हूं और उसका गोश्त बेच लेता हूं ! इस प्रकार मै एक ही जीव की हिंसा से अपनी आजीविका करता हूं और वह हिंसा भी स्वयं नही करता, किन्तु दूसरे से करवाता हूं। तथा मैं गोश्त भी नही खाता हूं। इसलिए आप मुझे ही श्रावक बना लीजिए।

तेरह-पन्थी साधु किसे अपना श्रावक बनावेगे और किसे न बनावेंगे ? बकरे की हिंसा त्याग देने पर श्रावक बनाना दूसरी

घात है, लेकिन तीनों आदमी अपना अपना व्यवसाय त्यागे बिना ही यदि श्रावक होना चाहे, तो तेरह-पन्थी किसको तो श्रावक बनावेंगे और किसको न बनावेंगे ? क्योंकि उनकी दृष्टि में तो सब जीव समान है। इसलिए बकरे द्वारा आजीविका करने वाले को ही अपना श्रावक बनाना चाहिये, दूसरों को नहीं। ऐसा होते हुए भी यदि वे बकरे द्वारा आजीविका करने वाले को अपना श्रावक नहीं बनाते है, तो फिर यह किस बिना पर कहते हैं, कि एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा समान है ? अथवा एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा समान है, अथवा एकेन्द्रिय को मारकर पंचेन्द्रिय का पोषण करना पाप है।

नवमी दलील सुनिये। जैन शास्त्रों मे त्रस-पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा करने वाले को नरक जाना कहा है, परन्तु क्या कहीं यह भी कहा है कि स्थावर जीव की हिंसा के पाप से कोई नरक में गया ? तेरह–पन्थियो से ही प्रश्न किया जावे कि एक आदमी नित्य सवा सेर आलू खाता है और प्रत्येक आलू मे अनन्त २ जीव है। इसके सिवाय वह और कोई पाप नहीं करता। लेकिन दुसरा आदमी जमीकन्द या लीलोत्री को छूता भी नहीं है. परन्तु उसने जीवन भर मे केवल एक मनुष्य, गाय, बकरे या सांप को मार डाला है तो आपके सिद्धान्तानुसार नरक मे कौन जावेगा ? और यदि दोनो ही नरक जावेगे तो अधिक स्थिति किसकी होगी ?

तथा आप जो कुछ उत्तर दे रहे है उसको किस शास्त्र के किस पाठ का समर्थन प्राप्त है ?

अन्तिम दसवीं दलील देकर हम इस विषय को समाप्त कर देगे। भगवान अरिष्ठनेमि को संयम लेने से पूर्व तेरह-पन्थी श्रावक जितना ज्ञान तो रहा ही होगा यानी इतना तो वे जानते ही होगे कि जल की एक एक बूंद मे असंख्य २ जीव हैं। ऐसा होते हुए भी उन्होने राजमति के यहां जाने से पूर्व मिट्टी, तांबा, पीतल, सोने और चांदी इनमें से प्रत्येक के बने हुए एक सो आठ घडो के जल से स्नान किया। यह कितने जीवो की हिंसा हुई ? फिर बरात सजाकर राजमती के यहां गये। उसमे भी कितने त्रस और स्थावर जीवो की हिंसा हुई होगी ? इतनी बडी-बडी हिंसा के समय तो वे कुछ भी न बोले और राजमती के वहां बाडे में बन्द पशुओं को देखकर कहा—

जइमज्झ कारणा ए ए, हम्मंति सु बहु जिया।
न मे एयं तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सई॥
('उत्तराध्ययन सूत्र' २२ वां अध्याय)

अर्थात—मेरे कारण होनेवाली यह बहुत जीवो की हिंसा, मेरे लिए परलोक मे श्रेयकारी नहीं हो सकती।

भगवान अरिष्ठनेमि के लिए पूर्व के इक्कीस तीर्थङ्कर स्पष्ट कह गये थे, कि अरिष्टनेमिजी बाल ब्रह्मचारी रहेगे और भगवान

अरिष्टनेमि स्वयं भी जानते थे कि मुझको विवाह नहीं करना है। ऐसा होते हुए भी उन्होंने अपने विवाह की तैयारी का ही विरोध क्यो नहीं किया; किन्तु स्नान द्वारा असंख्य एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा की और बारात द्वारा होने वाली त्रस तथा स्थावर जीवों की हिंसा भी देखते रहे। इन दोनों हिंसाओं का उन्होने कोई विरोध नही किया, न उनके विषय में यही कहा, कि यह हिंसा परलोक मे मेरे लिये श्रेयस्कर नहीं हो सकती। बल्कि स्नान द्वारा जलकाय आश्रित अनन्त जीवो की हिंसा तो उन्होंने अपने हाथ से ही की थी।

बाड़े में बन्द पशु-पक्षियों की जो हिंसा होती, वह उनके स्वयं के हाथ से न होती। इसके सिवाय बाड़े मे बन्द पशु-पक्षियो की संख्या भी सीमित ही हो सकती है। सो दो-सौ, हजार-दो हजार या अधिक से अधिक दस हजार मान लीजिये। लेकिन जल के जो स्थावर जीव मरे, उनका तो अन्त ही नही है, न उन जीवो की ही संख्या हो सकती है, जो बारात के सजने और जाने मे त्रस तथा स्थावर जीव मारे गये। फिर बाड़े में बन्द थोड़े से जीवों की हिंसा के लिए तो कहा कि मेरे लिए परलोक में यह हिंसा श्रेयस्कर नहीं हो सकती और जलादि के अनन्त जीवों के लिए ऐसा कुछ भी नही कहा, न उनकी हिंसा के लिए खेद या पश्चाताप ही किया।

ऐसी दशा मे एकेन्द्रिय जीव से पंचेन्द्रिय और प्रधान रहे या नहीं ? और एकेन्द्रिय जीवों की उपेक्षा करके भी पंचेन्द्रिय जीवों की रक्षा करना सिद्ध हुआ या नहीं ? फिर जब सारथी ने उन बाड़े और पींजरे में बन्द पशु पक्षियों को छोड़ दिया, तब भगवान अरिष्टनेमि ने सारथी को अपने आभूषण इनाम मे दिये। जो पशु-पक्षी जीवित रहे, वे कितनी हिंसा करेगे। उस हिंसा को जानते हुए भी भगवान ने सारथी को पुरस्कार क्यो दिया ?

तेरह-पन्थी लोगों के सिद्धान्तानुसार तो किसी जीव को कुछ देना पाप है, किसी जीव के प्रति करुणा करना राग है, जो अनेक भव तक जन्म-मरण कराने वाली है। फिर भगवान अरिष्टनेमि ने दोनो ही काम क्यो किये ? जीवो पर करुणा भी की, तथा उनको बचाया भी। फिर भी उन्हे भव-भ्रमण करना न पड़ा, वे तद्भव ही सिद्ध हुए। यदि भगवान अरिष्टनेमि की इच्छा जीवो को बचाने की न होती, तो बेचारे सारथी की क्या ताकत थी जो वह उग्रसेन के बाड़े पींजरे मे बन्द पशु पक्षियो को खोल देता। और कदाचित सारथी ने उनकी इच्छा न होने पर भी पशु पक्षियो को छोड़ दिया था, तो भगवान अरिष्टनेमि ने अपने आभूषण पारितोषिक रूप मे उसको क्यो दिये ? यदि वैराग्य आ जाने से दिये तो मुकुट क्यो न दे दिया ?

तेरह पन्थी तो कहते है कि—

धन धान्यादिक लोकां ने दिया यह तो निश्चय ही सावद्य दानजी। तिण में धर्म नहीं जिण राज रो ते भाष्यो छे श्री भगवानजी ॥

('अनुकम्पा' ढाल १२ वीं)

अर्थात—लोगो को धन धान्य देना निश्चय ही सावद्य (पाप) दान है। उसमे जिनराज का धर्म नहीं है, ऐसा श्री भगवान ने कहा है।

इसके अनुसार भगवान अरिष्ठनेमि ने सारथी को आभूषण देकर क्यो पाप किया? जिसमे धर्म नहीं है और जो सावद्य (पाप) है, वह दान भगवान अरिष्ठनेमि ने क्यों दिया? * क्या उनको तेरह पन्थ के एक साधारण साधु एवं श्रावक जितना ज्ञान भी

---

* तेरह पन्थी लोग दान में पुण्य नहीं मानते। यदि वे दानादि से पुण्य का बन्ध होना मानते हो, तब तो फिर चाहिए ही क्या। लेकिन वे तो स्पष्ट कहते है कि—

"पुण्य तो धर्म लारे बंधे छे, ते शुभ योग । ते निर्जरा विना पुण्य निपजे नहीं। ते माटे असंयति ने दियां धर्म पुण्य नहीं।"

('भ्रम-विध्वंसन' दानाधिकार बोल २०)

अर्थात पुण्य तो निर्जरा के साथ उत्पन्न होता है, इसलिए असंयति को देने से न धर्म है न पुण्य।

न था ? तेरह–पन्थ के सिद्धान्तानुसार असंयति होने के कारण वह सारथी कुपात्र था, * इसलिए उन्होने कुपात्र को आमन्त्रण तथा वर्षी दान देकर मास-भक्षण व्यसन कुशीलादिक के समान पाप क्यो किया ?÷ तेरह–पन्थी लोग चाहे भगवान अरिष्टनेमि के इन कार्यों को भी पाप कहने का साहस कर डाले, परन्तु वास्तव में भगवान अरिष्टनेमि के चरित्र से यह स्पष्ट है कि–

(१) एकेन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय जीवो की रक्षा प्रधान है, एकेन्द्रिय जीवो की रक्षा गौण है।

(२) पंचेन्द्रिय जीवों की रक्षा के लिए एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा महत्व सूचक नहीं है।

(३) साधु के सिवाय अन्य लोगो को दान देना पाप नहीं है।

इन समस्त दलीलों द्वारा यह बताना इष्ट है कि एकेन्द्रिय

---

* **"साधु थी अनेरा कुपात्र छे। तेहने दीधां अनेरी प्रकृति नो बंध ते अनेरी प्रकृति पाप नी ।"**

('भ्रम-विध्वसन' दानाधिकार बोल १८)

अर्थात—साधु के सिवा सब लोग कुपात्र है और कुपात्र को देने से दुसरी प्रकृति पाप की है, उसका बंध होता हैं।

÷ "कुपात्र दान, मांसादि सेवन, व्यसन कुशीलादिक ये तीनो ही एक मार्ग के ही पथिक है।"

['भ्रम-विध्वंसन' दानाधिकार बोल २१ का फुटनोट]

और पंचेन्द्रिय जीव समान नहीं है, किन्तु एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा पंचेन्द्रिय जीवों का महत्व बहुत अधिक है । पंचेन्द्रिय जीव की रक्षा के लिए एवं पंचेन्द्रिय जीव के कल्याण के लिए एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा नगण्य है । एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा होते हुए भी पंचेन्द्रिय जीव (मनुष्य) का हित साधु को करना, जैन शास्त्र सम्मत है । तेरह-पन्थी लोग दया दान के विरोधी होने से ही एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव को समान बताकर एकेन्द्रिय की हिंसा के नाम पर पंचेन्द्रिय की रक्षा को पाप बताते है । वे लोगो को धोखे मे डालते है, लोगों में भ्रम फैलाते है और जैन धर्म के नाम पर लोगों को उल्टे मार्ग पर ले जाते है । यदि ऐसा नहीं है, तो फिर तेरह-पन्थी साधु स्थावर जीवों की रक्षा के लिए—

(१) प्रतिलेखन करना क्यों नहीं त्यागते ?

(२) रजोहरण का उपयोग करना क्यों नहीं छोड़ते ?

(३) ग्रामानुग्राम विहार करना क्यों नहीं त्यागते ?

(४) आहार-पामी त्यागकर संथारा क्यों नहीं कर लेते ?

(५) नदी के पार जाना क्यों नहीं छोड़ते ?

(६) पंचेन्द्रिय जीव के मर जाने पर ज्यादा प्रायश्चित क्यों लेते है ?

(७) मांस-भक्षी की अपेक्षा अन्न वा वनस्पति-भोजी को बडा पापी क्यों नहीं मानते ?

(८) बकरे के वध और व्यवसाय द्वारा आजीविका करने वाले को श्रावक क्यों नहीं बनाते ?

(९) पंचेन्द्रिय जीव की अपेक्षा एकेन्द्रिय जीव के हिंसक को अधिकाधिक नरक होना क्यो नहीं मानते ?

मतलब यह है कि एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव समान नहीं है। पंचेन्द्रिय जीव की रक्षा के सामने एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा महत्त्व-पूर्ण नहीं है। क्योंकि धर्म का विधान करते हुए भगवान तीर्थङ्करो ने गृहस्थ के लिए स्थावर जीवों की पूर्ण दया अशक्य जानी, तब श्रावक व्रतों मे त्रस जीव की हिंसा त्यागना आवश्यक बताकर उसे त्यागने का विधान किया है। इसलिए महा ज्ञानियो की दृष्टि में भी एकेन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय की रक्षा विशेष महत्वपूर्ण है, और यह बात तेरह-पन्थियों के व्यवहार से भी सिद्ध है, जो ऊपर बताया गया है। इस सम्बन्ध में और भी बहुतसी दलीले देकर यह सिद्ध किया जा सकता है कि पंचेन्द्रिय जीवो की अपेक्षा एकेन्द्रिय जीव की हिंसा को तेरह-पन्थी लोग भी उपेक्षणीय मानते हैं, परन्तु पुस्तक का कलेवर बहुत बढ जावेगा, इसलिए हम इतनी ही दलीलें देकर सन्तोष करते हैं। और इस प्रकरण को समाप्त करते है।



मार जाता हुआ जीव, क की निर्जरा नहीं करता, किन्तु अधिक र्म धता है।

तेरह-पन्थी लोग कहते है कि जो जीव मर रहा है या कष्ट पा रहा है, वह अपने पूर्व संचित कर्म का भुगतान कर रहा है। ऐसे जीव को मरने से बचाना या उसकी सहायता करके उसको कष्ट-मुक्त करना, उस जीव को अपने ऊपर चढा हुआ कर्म-ऋण चुकाने से वंचित रखना है। वे कहते है—

"धु तो ी ने क्याँ चा ते तो पच रह्या निज क ी जी। कोई साधु री संगत आय रे ो सिखाय देवे जिन ीजी॥"

('अनु पा' । ९वीं ३६)

"जो करा रो ीवणो वांछे हीं लिगार।
ति ऊपर दृष्टान्त ते जो सुख ार।
ाहुकार रे दोय सुत एक पूत अवधार।
ऋण कर ी ज ां तणू माथे करे अपार॥

दूजो सुत जग दीपतो, यश संसार मझार ।
करडी जागाँ रो करज उतारे तिण वार ॥
कहो केहने वरजे पिता दोय पुत्र में देख ।
वर्जे कर्ज करे तसु के ऋण मेटते पेख ॥

समझ नर विरला ।

कर्ज थे सुत अधिक करतो वार वार पिता वरंजतो रे ।
करडी जागां रा माथे कांय कीजे प्रत्यक्ष दुख पामीजे रे ॥
अधिक माथा रो ऋर्ज उतारे जनक तास नहीं वारे रे ।
पिता समान साधु पिछाणो रजपूत बकरो वे सुत मानो रे ॥
कर्मरूप ऋण माथ कुण करतो आगला कर्म कुण अपहरतोरे ।
कर्मऋण रजपूत माथे करे थे बकरा संचित कर्म भोगवे छे रे ॥
साधु रजपूत ने वर्जे सुहाय कर्म करज करे कांय रे ।
कर्म बंध्यां घणा गोता खासी परभव में :ख पासीरे ॥

सरवर प ति ने समझायो ।
तिण रो तिरणो वंछ्यो मुनिरायो रे ।
बकरा जिवावण नहीं दे उपदेश
रूडी ओलख बुद्धिवन्त रेसरे ॥”

('भिक्षुय रसायन')

अर्थात्—साधु जीवों को क्यों बचावें ? जो जीव दुः पा रहे है, वे अपने कर्म से दुःख पा रहे है, इसलिए साधु उन्हे क्यों बचावें ? हाँ यदि कोई आकर साधु की संगति करे, तो उसको जैन-धर्म अवश्य सिखा देवेंगे।

मारे जाते हुए बकरे का जीवित रहना क्यों नही इच्छा जाता (यानी मरते हुए जीव को क्यो नहीं बचाया जाता)। इस पर एक दृष्टान्त सुनिये ! साहूकार के दो लड़के है, जिनमें से एक कपूत है, जो अपने सिर पर बहुत कठिन और अपार ऋण कर रहा है। लेकिन दूसरा लड़का संसार में सुप्रसिद्ध एवं यशस्वी है, जो कठिन ऋण चुका रहा है। अब बाप दोनो पुत्रों को देखकर किसको वर्जेगा, किसे हटकेगा और रोकेगा ? जो कर्ज कर रहा है उसको हटकेगा या जो कर्ज चुका रहा है उसको ? जो लड़का अपने सिर पर अधिक ऋण कर रहा है, बाप उसको बार बार वर्जेगा और कहेगा कि इतना कठिन ऋण क्यो कर रहा है ? इस कर्ज करने का दुष्परिणाम प्रत्यक्ष ही भोगना होगा। जो लड़का अपने सिर पर का कर्ज उतार रहा है, बाप उसको नही वर्जेगा, उसकी तो प्रशंसा ही करेगा।

इस दृष्टान्त के अनुसार साधु, बाप के समान है और बकरा (मारा जाने वाला) तथा राजपूत (बकरे को मारने वाला) दोनों साधु रूपी पिता के दो पुत्र हैं। इन दोनों

पुत्र में से कौन तो अपने सिर पर कर्म—रूपी ऋण चढ़ा रहा है, और कौन अपने पूर्व संचित कर्म—रूपी ऋण को चुका रहा है। यह देखो! राजपूत (बकरे को मारने वाला) बकरे को मारकर अपने सिर पर कर्म ऋण और चढ़ा रहा है, लेकिन बकरा, राजपुत के हाथ से मर कर अपने पूर्व संचित कर्म भोगन रूप अपने सिर पर का ऋण चुका रहा है। इसलिए साधु रूपी पिता, राजपूत (बकरा मारने वाले) रूप पुत्र को ही वर्जेंगे कि अपने सिर पर कर्म—रूपी कर्ज क्यों करता है? कर्म—रूपी कर्ज करने से तुझे बहुत चक्कर खाने पड़ेंगे और परभव मे दुःख पाना होगा। इस तरह राजपुत-रूपी पुत्र को मुनिराज ने भली प्रकार समझाया और उसका तिरना चाहा, परन्तु बकरे को जीवित रखने के लिए मुनिराज उपदेश नही देते। क्योकि वह तो मरकर अपने पर का कर्म-ऋण चुका रहा है। उसको कर्म-रूपी ऋण चुकाने से मुनिराज—रूपी पिता क्यो रोके? हे बुद्धिमानो! इस रहस्य को अच्छी तरह समझो।

यह है तेरह-पन्थियो का सिद्धान्त। थोड़ी समझ वाले लोगों मे यह सिद्धान्त भरने और उनसे अपना यह सिद्धान्त स्वीकार कराने के लिए तेरह-पन्थी लोग उन लोगो के सामने चित्र रखते है, अथवा कंकर रखकर समझाते है, कि देखो, यह बाप है और ये दो पुत्र हैं। एक पुत्र अपने सिर पर कर्ज कर रहा है और

दूसरा पुत्र अपने सिर पर का कर्ज उतार रहा है। बाप किसको रोकेगा? कर्ज करने वाले को रोकेगा, या कर्ज उतारने वाले को रोकेगा? बेचारे भोले लोग कह देते है कि कर्ज करनेवाले को ही बाप रोकेगा, लेकिन जो कर्ज उतार रहा है, उसके काम में बाप हस्तक्षेप क्यो करेगा? तब तेरह पन्थी कहते है कि इसी तरह इस चित्र में साधु है, जो सब जीवों के बाप की तरह है। छः काय के जीवों के प्रति-पालक है और उनके सामने यह कसाई और यह बैल है। ये दोनों ही साधु मुनिराज के पुत्र हैं। कसाई रूपी पुत्र बैल रूपी पुत्र को मारकर अपने पर कर्म-रूप ऋण चढा रहा है. लेकिन बैल रूपी पुत्र मरकर अपने पर का कर्म—ऋण उतार रहा है। ऐसी दशा मे साधु बैल रूपी पुत्र को कर्म रूपी ऋण चुकाने से कैसे रोक सकते हैं? यानी मरने से कैसे बचा सकते हैं? यदि कर्म—ऋण चुकाते हुए पुत्र को भी साधु रूपी पिता रोकते है तो पिता होकर भी उसका अहित करते है। इसी से हम कहते है, कि किसी मरते हुए जीव को बचाना, या दुःख पाते हुए जीव को दुःख मुक्त करना पाप है। क्योंकि ऐसा करने से वह अपने सिर पर का कर्म—ऋण चुकाने से वंचित रह जाता ह।

साधारण बुद्धिवाला आदमी तेरह—पन्थी साधुओं की इस कुयुक्ति को पहले तो ठीक मान बैठता है। वह क्या जाने कि ये

लोग हमको उल्टा समझा रहे हैं। उसको मालूम नहीं है कि जो जीव कसाई द्वारा मारा जा रहा है, वह जीव भी महा कठिन कर्म बांध रहा है किन्तु "पूर्व संचित कर्म चुका नहीं रहा है"। इस अजानकारी के कारण वे लोग तेरह-पन्थियों की बात को ठीक मानकर, मरते हूए जीव को बचाने, दीन दुःखी की सहायता करने आदि समस्त परोपकार के कार्यों को पाप मानने लगते हैं और सोचते है कि जो मर रहा है या दुःख पा रहा है, वह अपने कर्म भोग रहा है। हम उसको कर्म भोगने से क्यों रोकें?

तेरह-पन्थियों की इस कुयुक्ति पर हम सत्य का प्रकाश डालकर बताते हैं, कि तेरह-पन्थी साधुओं का यह कथन कितना झूठ, कितना धोखे में डालने वाला और कितना शास्त्र-विरुद्ध है। तथा, यदि इसी सिद्धान्त का व्यवहार उन्हीं के साथ किया जावे, तो उनको बुरा तो न मालूम होगा? वे काठियावाड़ या पंजाब आदि से जल्दी ही तो न लौट जावेगे?

सब से पहले यह देखना है कि क्या अज्ञान-पूर्वक कष्ट सहने या मरने से भी कर्म की सकाम निर्जरा होती है? क्या चिल्लाते, रुदन करते तथा हाय बांय करते और दुःख करते हुए मरने अथवा कष्ट सहने से कर्म ण चुकता है? इन प्रश्नों पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर मालूम होगा कि ऐसा कदापि नहीं हो सकता। यदि इस प्रकार के मरण या कष्ट सहने से कर्म

का ऋण चुकता हो, तो फिर संयम का पालन और पण्डित-मरण व्यर्थ हो जावेंगे। फिर संयम लेने या पण्डित मरण से मरने की कोई आवश्यकता ही न रहेगी और धर्म ध्यान तथा शुक्लध्यान भी निरर्थक सिद्ध होंगे।

श्रावक धर्म को जानने वाला है जिसके लिए सूत्र मे बहुत ही विशेषण आये है। वह जानता है कि आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान करने से कर्म का बन्ध होता है। इसलिए किसी भी समय आर्त्त ध्यान, रौद्र ध्यान न आने देना चाहिए, चाहे कितने भी कष्ट क्यो न हो, अथवा कोई मार ही क्यों न डाले। इस बात को जानते हुए भी ऐसे कितने श्रावक निकलेंगे, जो जान से मारे जाने या बहुत दिनो तक भूखे प्यासे रहने, अथवा चिरकालीन रोग ग्रस्त रहने की बात तो दूर रही, किसी के द्वारा एक थप्पड़ मार दिये जाने पर अथवा गाली दी जाने पर, अथवा समय पर भोजन-पानी न मिलने से या थोड़ा सिर या पेट दुखने से आर्त्त, रौद्र ध्यान या क्रोधादि न करते हों। जब सम्यक्त्व धारी देश-विरती श्रावकों को भी थोड़े ही से कष्ट मे आर्त्त रौद्र ध्यान व क्रोधादि कषाय हो सकते है, तो जो लोग धर्म को बिलकुल ही नही जानते, उन्हे उस समय कैसा भीषण आर्त रौद्र ध्यान होता होगा, जब कि वे किसी के द्वारा जान से मारे जाने लगते होंगे अथवा अन्न पानी न मिलने से क्षुधा तृषा का कष्ट पाते होंगे

और किसी रोग द्वारा पीड़ित होते होगे । किसी हिंसक या कसाई द्वारा किसी मारे जाते हुए जीव को देखो कि वह कैसा दु.ख पाता है, और किस प्रकार तड़फड़ाता एवं चिल्लाता हुआ मरता है।

जैन शास्त्र स्पष्ट कहते हैं कि जो आर्त्त रौद्र ध्यान करता हुआ मरता है, वह हल्के कर्म को भारी करता है, मन्द रस वाले कर्म को तीव्र रस वाले करता है और अल्प स्थिति के कर्मों को महास्थिति के बनाता है। यथा श्री ज्ञाता सूत्र तथा उपासक दशांग सूत्र मे श्रावक का वर्णन है। वहां बताया है कि देवता जिन श्रावको को डिगाने आया, वहां ऐसा बोला है कि जो तू धर्म नही छोडेगा तो मै तुझे अमुक २ कष्ट दूंगा । उस कष्ट और पीडा के कारण आर्त्त रौद्र ध्यान ध्याता हुआ अकाल में जीवित रहित हो जावेगा, तब तेरा धर्म कहा रहेगा । इस प्रकार परवश मरनेवाला आर्त रौद्र ध्यान वश बहुत कर्म बांध लेता है।

कर्जा तो श्री गजसुकुमालजी सरीखे महापुरुष जिन्होंने सम्यक् प्रकार कष्ट को सहन किया वही चुकाते है सब जीव नहीं चुकाते। वे तो अधिक कर्जा कर लेते है, शास्त्र मे तो ऐसा कहा है। और तेरह पन्थी कहते है कि राजपूत द्वारा मारा जाता हुआ बकरा अपने सिर पर का कर्म रूपी ऋण चुकाता है । हम

तेरह-पन्थी साधुओं से ही पूछते है कि जो जीव धर्म को नही जानते, वे जब किसी के द्वारा मारे जाने लगेगे, तव उनमें आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान होगा, या धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान होगा ? यदि धर्म न जानने पर भी बकरे को धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान हो सकता है, तब तो धर्म की जरूरत ही क्या रही क्योकि धर्म का उद्देश्य आत्मा मे धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान लाना है। ये दोनो ध्यान यदि धर्म न जानने वाले पशु को भी हो सकते है। तो फिर धर्म की जरूरत ही क्या रही ? और यदि धर्म न जानने वाले बकरे को राजपूत द्वारा मारे जाने के समय धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान नहीं हुआ, किन्तु आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान हुआ, तो आर्त ध्यान और रौद्र ध्यान से महान कर्म का बंध होता है या नही ? और यदि महान कर्म का बन्ध होता है, तो आपका यह कथन कि "बकरा अपने सिर पर का कर्म ऋण चुकाता है" झूठ और शास्त्र-विरुद्ध रहा या नही।

अब हम दूसरी दलील देते है। जैसा कि बताया जा चुका है, तेरह-पन्थ का सिद्धान्त है कि "मारने वाला अपने सिर पर कर्म ऋण करता है, इसलिए साधु लोग उसको उपदेश देकर कर्म ऋण करने से रोकते है, परन्तु जो मारा जा रहा है, वह अपने सिर पर का कर्म ऋण चुकाता है। इसलिए साधुरूपी पिता उस कर्म ऋण चुकाने वाले को कर्म ऋण चुकाने से नही रोकते, यानी

वे तो क्षुधा के कष्ट को समता पूर्वक ही सहेंगे और समता पूर्वक कष्ट सहने से कर्म की महा निर्जरा होती है, यह बात जैन शास्त्र भी कहते है और आप भी मानते है । साथ ही आप यह भी कहते है कि कर्म ऋण चुकाते हुए को अन्तराय देना पाप है । जैसा कि आपने बकरे और राजपूत का उदाहरण दिया है ।

आपके सिद्धान्त को मानने वाला यदि कोई आदमी सोचे कि आहार मिलने से मुनि के कर्म की निर्जरा होती हुई रुक जावेगी। ऐसा सोचकर वह स्वयं भी मुनि को पारणे के लिए आहार न दे, तथा औरो से भी कहे कि मुनि के कर्म की होती हुई निर्जरा मत रोको, तो उसका यह कार्य अनुचित तो न होगा ? इसके सिवा जो लोग मुनि को आहार देकर उनको कर्म ऋण चुकाने से रोक देते है, उनको पाप तो न होगा ? जिस तरह आपके उदाहरण में साधु, बकरे और राजपूत दोनो का बाप है, उसी तरह शास्त्रा–नुसार श्रावक भी साधु के बाप है । जिस तरह साधु, बकरे को कर्म ऋण चुकाने से नहीं रोकते, उसी प्रकार श्रावक को भी यही उचित है कि कर्म ऋण चुकाते हुए कर्म की निर्जरा करते हुए—साधु को वह न रोके । ऐसा होते हुए भी यदि कोई श्रावक साधु को आहार देकर उन्हे कर्म ऋण चुकाने से रोकते है, तो उनको भी वैसा ही पाप हुआ या नहीं, जैसा पाप कर्म ऋण चुकाते हुए बकरे को बचाने से हो सकता है ? बल्कि आपके दृष्टान्त

मे साधु अपने मन से ही बकरे का बाप बना है, और अपने मन से ही यह भी कहता है कि बकरा मरकर कर्म ऋण चुका रहा है।

इन दोनों बातो को शास्त्रीय समर्थन भी प्राप्त नहीं है, तथा ऊपर यह भी सिद्ध किया जा चुका है कि मरता हुआ बकरा, कर्म बांधता है, किन्तु चुकाता नहीं है,। लेकिन श्रावक, साधु के बाप तुल्य है और आहार न मिलने पर साधु के कर्म की महा निर्जरा होती है, इन दोनों ही बातो को शास्त्रीय समर्थन भी प्राप्त है।

आप ही से पूछते है, कि शास्त्र मे श्रावक को साधु का माता पिता कहा है या नहीं ? और आहार न मिलने पर साधु को समाधि पूर्वक कर्म की निर्जरा करना कहा है या नहीं ? इसलिए जो श्रावक, साधू को आहार-पानी देता है और कर्म ऋण चुकाते हुए साधू को कर्म ऋण चुकाने से रोकता है वह तेरह पन्थ के सिद्धान्तानुसार पापी हुआ या नहीं ? और तेरह-पन्थी लोग जिसकी महान महिमा गाते है, वह सुपात्र दान उन्हीं के सिद्धान्त से पाप ठहरता है या नहीं ? यदि साधु को आहार—पानी देना धर्म है, तो मरते हूए जीव को बचाना अथवा कष्ट पाते हूए जीव की सहायता करना पाप क्यो होगा ?

इस सम्बन्ध मे और भी बहुतसी युक्तियां दी जा सकती है, लेकिन इतनी ही युक्तियो से तेरह—पन्थ का यह सिद्धान्त गलत और असंगत ठहरता है, कि 'मरते हुए की रक्षा करने या दीन

दुखी की सहायता करने से उनका चुकता हुआ कर्म ऋण चुकना रुक जाता है, इसलिए मारे जाते हुए जीव को बचाना अथवा दुखी की सहायता करना पाप है। यदि सचमुच ही वे अपने इस सिद्धान्त को ठीक मानते हैं, तो—

(१) आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान से कर्म की निर्जरा होना मानना चाहिये।

(२) जो किसी जीव को मार रहा है, उसको भी हिंसा न करने का उपदेश न देना चाहिये।

(३) जिसको वे सुपात्र दान कहते हैं, वह सुपात्र दान भी पाप मानना चाहिये।

यदि तेरह–पन्थी लोग ऐसा नहीं करते हैं, तो उनका सिद्धान्त केवल लोगों को धोखे में डालने के लिए है, और झूठा है। जिस सिद्धान्त को वे स्वयं भी व्यवहार में नहीं ला सकते, उस सिद्धान्त का प्रचार केवल दया और दान को उठाने, एवं दान दया को पाप बताने के लिए लोगों में करना, यह तो दया दान से द्वेष रखना ही है।



श्रावक कुपात्र नहीं है

तेरह-पन्थी लोग कहते है, कि साधु के सिवा संसार के सभी प्राणी कुपात्र है और मरते हूए कुपात्र को बचाना, कुपात्र को दान देकर उसे कष्ट मुक्त करना तथा कुपात्र की सेवा-सुश्रुषा करना पाप है। जैसा कि वे कहते है—

छः कायरा शस्त्र जीव अव्रती त्यांरो जीवणो रणो न चावेजी। त्यांरो जीवणो मर ो साधु चावे तो रागद्वेष वेहूं आवेजी ॥ छः कायरा श जीव अव्रती त्यांरो असंयम जीवितव्य जाणोजी। सर्व सावद्य रा त्या क्रिया त्यांरो संयम जीवितव्य एह पिछा ो ी।

('अनुकम्पा' ढाल ९वीं)

अर्थात—अव्रती जीव छः काय के जीवों के शस्त्र (घातक) है इसलिए उनका जीना या मरना, न इच्छना चाहिये । यदि

कोई साधु* उनका जीना मरना इच्छता है, तो उनको राग और द्वेष दोनो ही लगते है। अव्रती जीव छःकायिक जीवों के घात है, इसलिए उनका जीवन असंयम पूर्ण है। सर्व सावद्य का त्याग जिन्होंने किया है, उन्हीं का जीवन संयम पूर्ण है।

और भी कहते है कि—

असंयम जीवितव्य ने बाल मरण यां री आशा बांछा नहीं करणी जी। पंडित मरण ने संयम जीवितव्य नी आंशा वांछा मन धरणी जी।

('अनुकम्पा' ढाल ९ वीं)

कर्मा करने जीवड़ा, उपजे ने मर जाय।
असंयम जीतव तेहनो, साधु न करे उपाय।

('अनुकम्पा' ढाल ३री)

असंयति जीवां रो जीवणो ते सावद्य जीतव साक्षात् जी। तिण ने देवे तो सावद्य दान छे तिण मे धर्म नहीं अंश मातजी॥

('अनुकम्पा' ढाल १२वीं)

---

* साधु और गृहस्थ का आचरण, दोनों की रीति और दोनों की अनुकम्पा एक ही है, ऐसा तेरह पन्थी मानते हैं जो पहले बताया जा चुका है।

छः काय रो शस्त्र जीव अव्रती, साता पूछे ने साता उपजावे । त्यांरी करे वियावच्च विविध प्रकारे तिण ने तीर्थंकर देव तो नहीं सरावे ॥

('अनुकम्प' ११ वीं)

अर्थात—असंयम जीवन और बाल मरण की आशा, कामना न करनी चाहिये, किन्तु पण्डित मरण और संयम जीवन की ही आशा (इच्छा) मन मे रखनी चाहिये । जीव कर्म के कारण मरते जीते हैं । उनका जीवन असंयम पूर्ण है, इसलिए साधु उनकी रक्षा का उपाय नहीं करते । असंयति जीवो का जीवित रहना साक्षात पाप पूर्ण जीवन है । इसलिए उनको दिया गया दान सावद्य (पाप) दान है, उसमे अंश-मात्र भी धर्म नहीं है । अव्रती जीव छः काय का शस्त्र है । उनकी शान्ति पूछना, अथवा उनको शान्ति देना अथवा अनेक प्रकार से उनकी सेवा करना आदि कामो की (पाप है इसलिए) तीर्थकर देव सराहना नहीं करते है ।

इन सब सिद्धान्त वाक्यो का स्पष्टीकरण करते हुए तेरह-पन्थी लोग 'भ्रम-विध्वंसन' पृष्ट ८२ में कहते हैं—

छव काय रा शस्त्र ते कुपात्र छे । तेहने पोष्यां धर्म पुण्य किम निपजे । डाह्या हुए तो विचारि जोइ जो ॥

इस बात को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए 'भ्रम विध्वंसन' पृष्ठ ७९ मे कहा गया है—

ते साधु थी अनेरा तो पात्र छे ।

अर्थात—साधु के सिवाय सब लोग कुपात्र है ।

इस प्रकार असंयमी अव्रती को तेरह—पन्थी लोग कुपात्र कहते है । व्रतधारी श्रावक का समावेश भी कुपात्र में ही करते हैं जैसा कि वे कहते हैं—

वेषधारी श्रावक ने सुपात्र थापे तिण ने नित्य जिमां या कहे मोक्ष रो धर्मो । उण ने सूत्र शस्त्र ज्यूं परणमिया हिंसा दढाय बांधे मूढ कर्मो ॥

('अनुकम्पा' ढाल १३ वीं)

अर्थात—वेषधारी, (तेरह—पन्थी साधु के सिवाय दूसरे सभी साधु) श्रावक को सुपात्र बताकर कहते है कि श्रावक को नित्य भोजन कराना, मोक्ष का धर्म है । ऐसा कहने वालो के लिए सूत्र भी शस्त्र की भाति परगमे है, और वे मूढ हिंसा की स्थापना करके कर्म बांधते है ।

संक्षेप मे वे लोग अपने सिवाय और सभी लोगो को छः काय के शस्त्र, असंयमी अव्रती और कुपात्र कहते हैं ; यह बात उनसे प्रश्न करके भी जानी जा सकती है । यदि वे कहें, कि और लोग अथवा श्रावक कुपात्र छः काय के शस्त्र असंयमी अव्रती

नहीं है, तो हमको उनका यह उत्तर सुनकर प्रसन्नता ही होगी। परन्तु वे स्पष्टतया ऐसा कदापि नहीं कह सकते, किसी को भुलावे मे चाहे भले ही डाले।

इस प्रकार साधु के सिवाय शेष सभी जीवों को, तेरह-पन्थी साधु छः काय के शस्त्र, असंयमी अव्रती और कुपात्र बताकर अपना सिद्धान्त वाक्य सुनाते है—

छः काय रे शस्त्र बचावियाँ, छः काया नो वैरी होय जी। त्याँ रे जीवितव्य पिण सावद्य कह्यो, त्याँ ने बचाया धर्म न होय जी। असंयती रा जीवणा मध्ये धर्म नहीं अंश मातजी। वले दान देवे छे तेहने ते पण सावद्य साक्षात् जी॥

('अनुकम्पा' ढाल १२ वीं)

अर्थात्—जो छ. काय के शस्त्र को बचाता है, वह छः काय का वैरी होता है। जिन छः काय के शस्त्र का जीवन पाप पूर्ण कहा गया है, उन छः काय के शस्त्र को बचाने से धर्म नहीं होता। असयति के जीवन मे अंश-मात्र भी धर्म नहीं है और उनको जो दान दिया जाता है, वह भी पाप पूर्ण है।

इसी बात को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए 'भ्रम-विध्वंसन पृष्ठ १२१ मे कहा गया है—

जिम कोई कसाई पांच सौ पांच सौ पंचेन्द्रिय जीव नित्य हणे छे, ते कसाई ने कोई मारतो हुवे तो तिण ने उपदेश देवे । ते ि ण ने तारवाने अर्थे पिण कसाई ने जीवतो राखण ने उपदेश न देवे । यो कसाई जीवतो रहे तो आछो, इम साई नो जीवणो बांछणो नहीं । केई पंचेन्द्रिय हणे केई एकेन्द्रिय हणे छे । ते माटे असंयति जीव ते हिंसक छे । हिंसक नो जीवणों वांछियां धर्म किम हुवे ?

इस प्रकार तेरह-पन्थी अपने सिवाय सव को वैसा ही हिसक कहते है, जैसा हिंसक नित्य पांच सौ-पांच सौ गाय या बकरे आदि पंचेन्द्रिय जीव मारने वाला कसाई होता है । तथा सव जीवों को, चाहे वह श्रावक हो या तेरह-पन्थ सम्प्रदाय के सिवाय अन्य किसी सम्प्रदाय का साधु भी हो, नित्य पाच सौ गाय मारने वाले कसाई की तरह हिंसक ठहरा कर कहते है कि ऐसे हिसक को वचाने, अथवा दान देने या उनकी सेवा सहायता करने से धर्म कैसे हो सकता है ? यह सव तो पाप ही है ।

तेरह-पन्थी साधु एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवो को समान तथा एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवो की हिंसा को समान कहते है तथा एकेन्द्रिय जीव की हिंसा करने वाले को भी उस कसाई

की तरह हिंसक कहते है, जो पांच सौ गाय वैल नित्य मारता है। इस विषय में पूर्व के एक प्रकरण में यह बताया जा चुका है, कि एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव समान नहीं है, दोनो की हिंसा भी समान नहीं है और दोनों की हिंसा का परिणाम भी समान नही है। हमने गत प्रकरण मे जो कुछ कहा है, उसमें से इस एक बात को हम फिर दोहराते है, कि यदि दोनों की हिंसा समान है, तो तेरह पन्थी साधु पंचेन्द्रिय जीव हनने वाले को श्रावक क्यो नहीं बनाते, जब कि असंख्य और अनन्त एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा करने वाले व्यक्ति को वे अपना श्रावक बना लेते हैं? इसके सिवा शास्त्र में यह तो कहा है कि पंचेन्द्रिय बध नरक का कारण है, परन्तु क्या कहीं ऐसा भी कहा है कि एकेन्द्रिय का बध करने वाला श्रावक भी नरक मे जाता है? शास्त्र का वह पाठ यहां लिखते है।

एवं खलु चउहिं ठाणेहिं जीवा नेरइताए कम्मं पप करंति-णेरइत्ताए कम्मं पपकरेत्ता णेरइए उववज्जंति-तंजहा महारंभाए महा परिग्गहिया ए, पंचिंदिय वहेणं कुणिमा हारेणं।

('उववाई सूत्र' तथा 'भगवती सूत्र')

भावार्थ---इस प्रकार चार स्थानक से जीव नरक-गति में जाने का कर्म करता है और वह नरक मे उपजने के कर्म उपार्जन

करके नर्क में उत्पन्न होना है यथा महारम्भ करके महा परिग्रह करके पचेन्द्रिय का वध करके और मास भक्षण करके।

शास्त्र का यह पाठ होने पर भी यानी पंचेन्द्रिय का वध नरक का कारण होने पर भी कारण सहित पंचेन्द्रिय-वध करने वाला भी नरक नहीं जाता है। जैसे वर्णनागनतुया और राजा चेटक ने अनेको मनुष्य मार डाले, फिर भी नरक नही गये। इस प्रकार सकारण की हुई पचेन्द्रिय जीव की हिंसा भी कारणवश क्षम्य मानी जाती है, तव एकेन्द्रिय जीव की हिंसा करने वाला उस कसाई की तरह का हिंसक कैसे हो सकता है, जो पाच पांच सौ पंचेन्द्रिय जीव नित्य मारता है? क्या दोनो की हिंसा समान है, और दोनो की हिंसा का फल भी समान होगा? यदि नहीं तो पाच सौ पचेन्द्रिय जीव हनने वाले कसाई की तुलना मे सव जीवो को ठहराकर उनको वचाना या उनकी सहायता करने के कार्य्य को पाप वताना कैसे उचित है? इसके सिवाय करुणा करके कसाई को वचाना भी पाप नही कहा जा सकता, यह वात हम अगले किसी प्रकरण मे वतावेगे। यहां तो केवल इस वात पर थोडा सा प्रकाश डालते है कि तेरह-पन्थियो का यह कथन कहां तक उचित है, कि सयति (साधु) के सिवाय सव लोग कुपात्र है

पहिला प्रश्न तो यह है कि कुपात्र शव्द तेरह-पन्थी लोग कहां से ढूंढ लाये। शास्त्र मे तो 'कुपात्र' शव्द पाया ही नहीं

जाना। व्यवहार और कोष आदि मे भी 'पात्र' और 'अपात्र' ये दो ही शब्द पाये जाते है। यानी पात्र है और पात्र नहीं है। कदाचित किसी मे दोनो ही बाते रही हुई हों तो विशेष परिस्थिति के लिए एक तीसरा शब्द 'पात्रापात्र' और भी बन सकता है, परन्तु यह शब्द पात्र और अपात्र इन दोनो शब्द के मिश्रण से ही बना है, इनसे भिन्न नहीं है। हां, आचार्यों ने कहीं सुपात्र के तीन भेद किये है। यथा जघन्य सुपात्र सम्यक् दृष्टि, मध्यम सुपात्र श्रावक, उत्कृष्ट सुपात्र साधु और अपात्र रोगी, दुखी, मंगत, भिखारी तथा कुपात्र—हिंसक, चोर, जार, वेश्या ऐसी कहीं कही व्याख्या है। साधु-श्रावक को तो गुण-रत्नो का पात्र ही कहा है।

ऐसी दशा में अपने लिए सुपात्र और दूसरे के लिए कुपात्र शब्द लाये कहां से ? केवल अपनी बड़ाई और दूसरों की तुच्छता बताने के लिए ही कुपात्र और सुपात्र शब्द की सृष्टि की है, या अपना स्वार्थ साधने के लिए तथा इन नामो से लोगो को धोखे मे डालने के लिए ही इन शब्दों की कल्पना कीगई है, या और किसी उद्देश्य से ? साधु कहलाकर भी इस तरह के कल्पित शब्दों द्वारा लोगो को धोखे में डालना क्या उचित है ? परन्तु तेरह-पन्थी साधुओ ने यदि औचित्य को अपने में रहने दिया होता, तो जैन शास्त्र और भगवान महावीर के नाम से वे दया तथा दान को पाप ही क्यों कहते ?

'सु' और 'कु' (पात्रो के) विशेषण है। विशेषणों का उपयोग विशेष समय पर ही किया जा सकता है, सदा के लिए नहीं, लेकिन तेरह-पन्थियों ने मूल शब्द 'पात्र' और 'अपात्र' का तो कहीं उपयोग ही नही किया है।

पात्र का अर्थ है बर्तन-भाजन। वस्तु रखने के लिए जो उपयुक्त होता है, वह उस वस्तु के लिए पात्र है, और जो उपयुक्त नही है, वह अपात्र है। परन्तु जो एक कार्य के लिए पात्र है, वही दूसरे कार्य के लिए अपात्र भी हो जाता है, और जो एक कार्य के लिए अपात्र है, वह दूसरे कार्य के लिए पात्र भी हो जाता है। उदाहरण के लिए कोई लड़का उद्दण्ड, अविनीत चोर और विद्याध्ययन मे चित्त न लगाने वाला है, तो वह लड़का विद्या पढाने के लिए तो अपात्र है परन्तु लड़ाई झगड़े और बदमाशी आदि के लिए पात्र हो जाता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति पढा लिखा तो है, साहसी भी है, परन्तु कद मे ५ फीट ६ इञ्च से कम है और छाती ३० इञ्च है, तो वह व्यक्ति फौज में भर्ती होने के लिए तो अपात्र है, लेकिन क्लर्की के लिए अपात्र नही है, किन्तु पात्र है इन उदाहरणो को और आगे बढा लीजिए।

'सु' और 'कु' विशेषण पात्र के लिए ही लग सकते है। जो जिस कार्य का पात्र ही नहीं है उसके लिए 'कु' और 'सु' विशेषण भी नहीं लगते। जो जिस वस्तु का पात्र है, उसमें रखी गई वस्तु

यदि आशा से अधिक समय तक सुरक्षित रहती है, यदि आशा से अधिक गुण देने वाली हो जाती है, तब उस पात्र की प्रशंसा मे 'सु' विशेपण लगाकर उसे सुपात्र कहा जाता है। इसी प्रकार जिसमें रखी हुई वस्तु आशा से बहुत कम समय में ही खराब हो जाती है, अथवा आशा तो यह थी कि इस पात्र मे वस्तु के गुणो मे वृद्धि होगी लेकिन इस आशा के विरुद्ध वस्तु विपरीत गुणकारी अथवा गुणहीन बन जाती है, तब उस पात्र की निन्दा करने के लिए 'कु' विशेपण लगाकर उसे कुपात्र कहा जाता है।

इस प्रकार 'सु' और 'कु' विशेपण पात्र के लिए ही लगते हैं जो अपात्र है, उसमें रखी हुई वस्तु यदि खराब भी हो जावे, तो उसको कुपात्र न कहा जावेगा, किन्तु अपात्र ही कहा जावेगा उदाहरण के लिए खटाई के बर्तन में रखा गया दुध यदि खराब हो जावे, तो क्या उस वर्तन को कुपात्र कहा जावेगा? यही कहा जावेगा कि यह वर्तन ही दूध रखने के योग्य न था, दुध के लिए अपात्र था। किसी हींजड़े को फौज में भर्ती करके युद्ध में भेजा जावे, और वहां से वह ताली बजाकर भागे, तो उसको कुपात्र न कहा जावेगा, किन्तु यही कहा जावेगा कि यह फौज के लिए अपात्र ही था। परन्तु जो बर्तन दूध के लिए अपात्र रहा है, वह खटाई के लिए पात्र है। जो हींजड़ा फौज के लिए अपात्र रहा है, वह ताली बजाकर, नाचने गाने के लिए पात्र है। इस प्रकार

पात्र या अपात्र अपेक्षाकृत है, और 'सु' तथा 'कु' विशेषण-पात्र के लिए ही लगते है सभी बातो के लिए न तो कोई पात्र है न अपात्र है।

मतलब यह है कि जिसके लिए जो मर्यादा है वह उसका पात्र है, और जिसके लिए जो मर्यादा नहीं है, वह उसका पात्र नही है, किन्तु उसके लिए अपात्र है। जो पात्र है, उसके द्वारा जब तक मर्यादा की सीमा का अनुकूल या प्रतिकूल उल्लंघन नहीं होता है, वह मर्यादा भीतर ही है तब तक तो वह पात्रही है। उसको न सुपात्र कहा जावेगा, न कुपात्र ही कहा जावेगा। लेकिन जब वह अनुकूल दिशा मे मर्यादा का उल्लघन करता है यानी आगे बढता है, तब उसे सुपात्र कहा जाता है और प्रतिकूल दिशा में मर्यादा का उल्लंघन करके आगे बढता है, तो कुपात्र कहा जावेगा। जैसे पुत्र और अपुत्र, पुत्र तो आपका लड़का है, लेकिन अपुत्र आपका लड़का नही है। जो आपका लड़का ही नहीं है, वह यदि आपको खाने को नहीं देता है, तो आप उसको सुपुत्र न कहेगे। इसके विरुद्ध जो आपका लड़का है, वह जब तक अपने कर्त्तव्य का साधारण रीति से पालन करता रहेगा, आप उसको पुत्र कहेंगे। जब वह अपने कर्त्तव्य का विशेष रूप से पालन करे, तब आप उसको सुपुत्र कहेंगे और जब वह अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा करेगा, अपने कर्त्तव्य का

पालन न करेगा, विपरीत व्यवहार करेगा, तब आप उसको कुपुत्र कहेंगे ।

मतलब यह है कि पात्र और अपात्र शब्द अपेक्षाकृत है और 'कु' तथा 'सु' विशेषण पतन और उत्थान का बोध कराने वाले हैं। कोई भी व्यक्ति सब बातों के लिए न तो पात्र है, न अपात्र और न सुपात्र है, न कुपात्र। ऐसा होते हुए भी तेरह-पन्थियों ने संसार के समस्त जीवों को सुपात्र और कुपात्र इन दो भागों में ही विभक्त कर डाला है तथा यह फतवा दे दिया है कि साधु संयमी संजती (इन्हीं के माने हुए, चाहे उनमें संयम के गुण हों या नहीं, खाली वेष ही हो) के सिवाय सभी लोग कुपात्र हैं। जान पड़ता है कि सब निर्णय उन्हीं के अधीन है, और उनका जो वाक्य निकले, वह उनके अनुयायी-मारवाड़ी सेठो की तरह, सब के लिए 'तहत' हो जावे ।

एक और भी दलील सुनिये ! यदि तेरह-पन्थ की मान्यतानुसार साधु के सिवाय सभी कुपात्र है तो वे धर्म का उपदेश किनको देते है ? कारण कि पात्र ही वस्तु को धारण कर सकता है। अपात्र वस्तु को धारण नहीं कर सकता। जैसे कि सिंहनी का दूध धारण करने को स्वर्ण कटोरा ही पात्र माना जाता है, दूसरा नहीं। जब अपात्र भी उत्तम पदार्थ को धारण नहीं कर सकता, तब धर्म जैसे सर्वोत्कृष्ट पदार्थ के लिए कुपात्र-कैसे योग्य

बन सकते है । श्री वीतराग सर्वज्ञ देव प्रणीत स्याद्वादमय नय निक्षेप आदि सापेक्ष मार्ग को समझने के लिए तो पात्र ही चाहिये । कुपात्रो के हाथ पड़ने से ही स्याद्वादमयी सापेक्ष वाणी का इस प्रकार उल्टा परिणमन हुआ है, क्योकि तेरह-पन्थ के सिद्धान्तानुसार इनके श्रावक और साधु होने से पहिले इनके बड़े बड़े आचार्य भी कुपात्रों की श्रेणी मे ही थे । तब कुपात्र उस वाणी को सम्यक् प्रकार कैसे ग्रहण कर सकते हैं ।

तेरह–पन्थी साधु अपने आपको एकान्त रूप से सभी बातो के लिए सुपात्र कहते है, परन्तु अुनका यह कथन भी सर्वथा झूठ है । क्या वे अनुकम्पादान, संग्रहदान, अभयदान, कारुण्यदान, लज्जादान, गौरवदान, अधर्मदान, करिष्यतिदान और कृतदान के लिए सुपात्र होना तो दूर रहा, पात्र भी है ? यदि नही तो वे अपने आपको सर्वथा सुपात्र कैसे कहते है ? इन दोनो के लिए तेरह-पन्थी साधु, हमारी दृष्टि मे अपात्र और तेरह–पन्थ के सिद्धान्तानुसार कुपात्र है या नही ? धर्मदान के लिए भी साधु पात्र अवश्य हैं, किन्तु सभी साधु, वेषधारी धर्मदान के लिए भी सुपात्र नही हैं । 'सु' विशेषण यदि लगाया जा सकता है, तो उन थोड़े से साधुओं को ही, जो बड़ी तपस्याएँ करते है, तथा आत्मदमन करते हैं । सभी साधु वेषधारियो के लिए 'सु' विशेषण नहीं लगाया जा सकता है, न तपस्वियो के लिए ही सर्वदा

'सु' विशेषण लगाया जा सकता है, तथा यह पात्रता या सुपात्रता धर्मदान की अपेक्षा से ही है, और किसी अपेक्षा से नहीं। अन्य दानादि कार्य के लिए तो साधु 'अपात्र' है और तेरह पन्थियों के यहां तो सिर्फ सुपात्र तथा कुपात्र, ये दो भेद ही हैं, इसलिए उनके सिद्धान्तानुसार ये कुपात्र हैं।

अब हम दूसरी तरह से यह बताते है कि यदि श्रावक कुपात्र है, तो श्रावक को कुपात्र कहने वाले भी कुपात्र ही हैं। यह बात दूसरी है कि श्रावक में कुपात्रता ज्यादा निकले, और साधु में कम निकले, परन्तु श्रावक को कुपात्र कहने वाले भी सुपात्र कभी नहीं हो सकते।

मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग, ये पांच आश्रव है। इन पांचों आश्रवों को हम संख्या में १२३४५ मान लेते है तेरह पन्थी लोग आश्रव की अपेक्षा से ही श्रावक को कुपात्र कहते है, यह बात उनके कथन द्वारा ऊपर सिद्ध की जा चुकी है। मिथ्यात्व को तो साधु ने भी छोड़ दिया है और श्रावक ने भी छोड़ दिया है बाकी २३४५ संख्या रही। इसमें से अव्रत नाम के आश्रव को साधु ने सर्वथा बंद कर दिया है और श्रावक ने आंशिक वन्द किया है। इस प्रकार २३४५ संख्या मे से साधुओं ने २ का अंक सर्वथा उडा दिया है, और श्रावक ने उस दो के अंक को तोडकर एक कर दिया है। शेष में साधु और

श्रावक बराबर है यदि दोनों द्वारा तोड़े गये आश्रव की संख्या घटाकर आधी करदी जावे, तो श्रावक के ज़िम्मे आश्रव का अंक १३४५ रहता है और साधुओ के जिम्मे ३४५ रहता है। अब विचार करने की बात है कि जिसको १३४५ रुपया देना है वह यदि कर्जदार कहा जावेगा, तो क्या जिसे ३४५) रुपया देना है, वह कर्जदार न कहा जावेगा ? क्या उसको कर्ज-रहित कहा जावेगा ? कर्जदार तो दोनो ही है, कोई कम कर्जदार है, कोई ज्यादा।

इसलिए इस प्रकार आश्रव की अपेक्षा से ही श्रावक को कुपात्र कहा जाता है, तो साधु भी कुपात्र ही है। यदि कहा जावे कि श्रावक की अपेक्षा साधु पर आश्रव का ऋण बहुत कम है, इसलिए साधु सुपात्र तथा श्रावक कुपात्र है, तो श्रावक इसका जवाब यह देगे कि मिथ्यात्वी की अपेक्षा श्रावक पर आश्रव का ऋण बहुत कम है, इसलिए मिथ्यात्वी कुपात्र और श्रावक सुपात्र है। श्रावक की अपेक्षा साधु पर आश्रव का ऋण कम है, इसलिए साधु सुपात्र और श्रावक कुपात्र है। साधु की अपेक्षा केवली मे आश्रव का ऋण बहुत कम है, इसलिए केवली सुपात्र और साधु कुपात्र है। बल्कि साधु के श्रावक तो केवल ६ $\frac{२७}{६४}$ गुना अधिक कुपात्र है, परन्तु केवली से साधु ६९ गुना अधिक कुपात्र है, और १४ वे गुण स्थान पर पहुँचे हुए तो योग को रूँध चुके

है, आश्रव से बिल्कुल मुक्त हो चुके है, उनकी अपेक्षा सयोगी केवली कुपात्र है। इस प्रकार कुपात्रता की परम्परा का अन्त तो सिद्ध या अयोगी होने पर ही हो सकता है।

जिस श्रावक ने १२३४५ में से दस हजार का ऋण चुका दिया है, फिर भी यदि वह कुपात्र कहा जाता है, तो जिन्होने २३४५ मे से दो ही हजार का ऋण चुकाया है, वे सुपात्र क्यों कहे जावेगे? जिन श्रावकों ने साधुओ की अपेक्षा अपने ऋण के पांच भाग चुका दिये है, उनको वे साधु, कुपात्र किस मुंह से कह सकते है, कि जिनको केवलियो की अपेक्षा ६८ गुना ऋण चुकाना बाकी है। अपनी फूटी आंख को न देखकर दूसरे की आंख की छींट को देखने और उसे काना कहने वाले शर्मदार होते है या बे-शर्म! यदि शर्मदार होते तब तो ऐसा नहीं कह सकते।

श्रावक ने जो व्रत लिये है, उसके कारण वह व्रताव्रती ही कहा जावेगा, अव्रती नही, चाहे वह व्रत सामान्य हो या अधिक हो। परन्तु जब से उसने व्रत लिया, तब से अव्रत की क्रिया उसको नहीं लग सकती। यह बात तो तेरह-पन्थियो को भी मान्य होनी चाहिए। मान्य क्यो न होगी, जब कि वे स्वयं 'भ्रमविध्वंसन' मिथ्यात्वी क्रियाधिकार के पांचवें बोल पृष्ठ १२-१३ मे कहते हैं—

वली मिथ्यात्वी ने भली करणी रे लेखे सुव्रती
क ो छे। ते पाठ ि खिये छे ।

ऐसा कहकर उत्तराध्ययन सूत्र के ७ वें अध्ययन की २० वीं गाथा उद्धृत करते हुए लिखते है—

अथ इहाँ इम कह्यो। जे रुष गृहस्थ पणे प्रकृति भद्र परि ाम, क्षमादि गुण सहित एहवा गुणा ने ुव्रती कह्या। परं १२ व्रतधारी नथी। ते जाव नुष्य री मनुष्य में उपजे। ए तो मिथ्यात्वी अनेक भला गुणां सहित ने ु ती क ो। ते करणी भली आज्ञा मां व्ही छे। अने जे क्षमादि गुण आज्ञा ें नहीं हुवे तो सुव्रती क्यूँ कह्यो। ते क्षमादिक गुणां री करणी अशुद्ध होवे तो कुव्रती कहता। ए तो ाम्प्रत भली करणी आश्रयी मिथ्यात्वी ने सुव्रती कह्यो छे। अने जो म्यक् दृ ि हुए तो मरी ने मनुष्य हुए नहीं। ने इहाँ कह्यो ते नुष्य मरी मनुष्य में उपजे ते न्याये प्रथम ण ठाणे े। तेह ने सुव्रती कह्यो। ते निर्जरा री शुद्ध करणी आश्रयी कह्यो छे।

इस कथन द्वारा वे कहते है कि क्षमादि गुणों के कारण से मिथ्यात्वी सुव्रती है, और अपने इस कथन की पुष्टि में उत्तरा—

ध्ययन सूत्र का पाठ भी देते है । मिथ्यात्वी के पांचों आश्रव खुले हुए है । उसने कोई व्रत या प्रत्याख्यान नहीं लिया है और जो शुभ करणी करता है, वह भी मिथ्यात्व के साथ करता है, सम्यक्त्व पूर्वक नहीं करता है। ऐसा होते हुए भी जब वह सुव्रती है, तो जिसने मिथ्यात्व और आंशिक अव्रत इन दो आश्रवों को बन्द कर दिया है, वह श्रावक क्या सुव्रती न होगा ?

इस प्रकार श्रावक भी आंशिक सुव्रती है, और साधु भी सुव्रती है। ऐसी दशा मे श्रावक कुपात्र और साधु सुपात्र कैसे हो सकता है ?

इसके सिवाय वे कहते है कि "अव्रती जीव छः काय का शस्त्र है। सकी शान्ति पूछना अथवा उसको शान्ति देना, अथवा अनेक प्रकार से उसकी सेवा करना सावद्य पाप है।" परन्तु बारह व्रतधारी श्रावक तो अव्रती नहीं है। उसके लिए भगवान ने जितने भी व्रत बताये हैं, वे सब व्रत उसने स्वीकार किये हैं, फिर श्रावक का कौनसा व्रत ऐसा शेष रह गया है, जिसके न लेने से वह अव्रती कहला सकता है ? यदि कहा जावे कि साधु की अपेक्षा उसमें चारित्र कम है, इसलिए उसको अव्रती कहा जाता है, तो यथाख्यात चारित्र की अपेक्षा वर्तमान साधु में भी चारित्र बल बहुत ही कम है । फिर साधु अव्रती क्यों नहीं ? बल्कि श्रावक के लिए चारित्र की जो अन्तिम और

श्रेष्ठतम सीमा बताई गई है, श्रावक उस सीमा का पालन पूर्णतया कर रहा है, परन्तु साधु के लिए जो अन्तिम और श्रेष्ठतम सीमा बताई गई है, साधु उससे बहुत ही दूर है, पिछड़ा हुआ है। ऐसा होते हुए भी साधु सुव्रती तथा सुपात्र और श्रावक अव्रती तथा कुपात्र कैसे रह सकता है? श्रावक भी सुव्रती तथा सुपात्र है। फिर भी तेरह-पन्थी साधु श्रावक के विषय में और श्रावकत्व की चरम सीमा पर पहुंचे हुए ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावक के लिए भी कहते है कि श्रावक को खिलाना पाप है, श्रावक की सेवा करना पाप है, ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावक को भिक्षा देना पाप है और श्रावक की कुशल-क्षेम पूछना भी पाप है।

हम पूछते है कि जब सुव्रती होने पर भी श्रावक को खिलाना या ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावक को भिक्षा देना पाप है, तो साधु को देना धर्म कैसे हो जावेगा? यदि तेरह-पन्थी कहे कि श्रावक में अभी अव्रत शेष हैं, तो उनका यह कहना झुठ है। श्रावक के लिए जितने व्रत बताये गये है, वे सब व्रत स्वीकार कर लेने पर अव्रत कहा रहा? यदि कहा जावे कि व्रत लेने के बाद जो बाकी रह गया है, वह अव्रत है, तो जो बाकी रहा है उसे भी त्यागना साधु का व्रत है, श्रावक का व्रत नहीं है। श्रावक के तो जितने भी व्रत कहे गये है, श्रावक उन सब को स्वीकार कर चुका है। श्रावक के व्रतो की मर्यादा जितनी कही गई है,

श्रावक उन सब का पूर्णतया पालन करता है । वह श्रावक पद का अराधक है, ऐसा सूत्र मे कहा है । वह मर्यादा के विरुद्ध कोई आचरण नहीं करता । लेकिन साधु तो मर्यादा के विरुद्ध आचरण करते हैं, क्योकि परिग्रह में शरीर की भी गणना है । साधुओ को शरीर से ममत्व है या नहीं ? यदि नहीं, तो नित्य घर घर भोजन के लिए क्यो भटकते है ? शीत, ताप और वर्षा से बचने का प्रयत्न क्यो करते हैं ? पैर मे एक छोटासा कांटा भी लग जाता है, तो निकालने क्यो बैठते है ? रोग होने पर वैद्य, डाक्टर की शरण क्यो लेते है ? अर्श होने पर ऑप्रेशन क्यों करने देते हैं ?* यदि कोई ऑप्रेशन करने लगे, तो उसको रोक

---

* तेरह-पन्थी, 'भ्रम-विध्वंसन' पृष्ठ २६८ में कहते है- **'जे अर्श छेदे ते वैद्य ने क्रिया लागे, अने जे साधु नी अर्श छेदाणी, तेहने क्रिया न लागे'** इसी बात को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं-- **'तिवारे कोई कहे, ए वैद्य ने क्रिया कही ते पुण्य नी क्रिया छे, पिण पाप नी क्रिया नहीं । एहवो ऊंधो अर्थ करे, तेहने उत्तर—इहां कह्यो, अर्श छेदे ते वैद्य ने क्रिया लागे, पिण धर्मान्तराय साधु रे पड़ी । धर्मान्तराय ते धर्म में विघ्न पड्यो, तो जे साधु रे धर्मान्तराय पाडे, तेहने शुभ क्रिया किम हुवे ? ए धर्मान्तराय पाड्यां तो पुण्य बँधे नहीं । धर्मान्तराय पाड्यां तो पाप नी क्रिया लागे छे ।'**

क्यों नहीं देते ? यदि आप भोजन न करें, शीत, ताप, वर्षा से बचने का प्रयत्न न करें; पैर का कांटा न निकाले, रोग होने पर वैद्य डाक्टर की शरण न ले तो क्या आपको पाप होगा ? सनत्कुमार (चक्रवर्ती) मुनि ने शरीर के रोग नहीं मिटाये तो क्या उनको पाप हुआ ? गजसुकुमार मुनि ने शरीर की रक्षा का प्रयत्न नहीं किया तो क्या उन्हें पाप लगा ? जिन कल्पी साधु शीत, वर्षा, ताप सहते हैं, तो क्या पाप करते हैं ? अनेक साधुओं ने साधु होते ही आहार पानी त्याग दिया, तो क्या उनको पाप हुआ ? यदि नहीं तो फिर आप शरीर-रक्षा का

यह युक्ति उनकी मूर्खतापूर्ण है। कारण कि अर्श (मस्सा) छेदने से साधु के धर्मान्तराय नहीं पड़ती, परन्तु मस्सा के कारण से साधु को जो पीड़ा होती थी, जिससे उनके शुभ ध्यान में विघ्न पड़ता था, किसी समय पर रोग और पीड़ा के कारण आर्त्तध्यान भी होता था, वह मिटाया और भविष्य में समाधि रहेगा, उस समाधि करने के निमित्तभूत वैद्य, डाक्टर ही हैं, वास्ते उसको महापुण्य और अ भ कर्म की निर्जरा होती है। जैसे जीवानन्द वैद्य ने मुनि के शरीर में कृमियादि रोग की शान्ति करके तीर्थङ्कर नाम के योग्य पुण्य एकत्रित किए थे।

तेरह-पन्थी कहते हैं कि जिस वैद्य ने साधु का अर्श (मस्सा) छेदा है, उसने साधु के धर्म मे विघ्न डाला है, साधु को धर्मान्तराय दी है, इसलिए उसको पाप की क्रिया लगती हैं, लेकिन साधु को क्रिया नहीं लगती। क्याही अच्छा न्याय है। अर्श छेदे उसको पाप, और जिनका रोग गया उनको धर्म।

प्रयत्न क्यों करते है, और जो शरीर से ममत्व रखते है, तो आपका परिग्रह व्रत नष्ट हुआ या रहा ?

इस प्रकार साधु तो पहिले व्रत अहिंसा (जैसा कि पूर्व के प्रकरण मे नाव विहार आदि के उदाहरण देकर सिद्ध किया जा चुका है) को भी तोड़ते हैं, पांचवें परिग्रह व्रत को भी तोड़ते है, और दूसरे सत्यव्रत को भी तोड़ते हैं, लेकिन श्रावक ने जितने भी व्रत लिये हैं, उन सबका पूर्णतया पालन करता है, फिर भी साधु को आहार पानी देना धर्म और श्रावक को खिलाना पिलाना पाप कैसे है ? व्रतों का भंग साधु करते है, ऐसी दशा में सुव्रती साधु रहे या श्रावक रहा ? अव्रत साधु में आया, या श्रावक में आया ?

यदि तेरह-पन्थी साधु, यह कहें कि हम में यानी साधुओं मे जो कमी है, साधु उसी कमी को मिटाने की ही भावना रखते है, तो इसका उत्तर यह है कि क्या श्रावक इस प्रयत्न में नहीं रहता है ? वह भी नित्य ही चौदह नियम का चिंतवन करता है व मनोरथादि भावना भाता है, जिसमें से एक यह भी है कि कब वह दिन धन्य होगा जब मै आरम्भ परिग्रह का सर्वथा त्यागी होऊँगा। इस तरह इस अंश में तो साधु और श्रावक बराबर ही रहे, और ग्रहण किये हुए व्रतों का पालन करने के अंश में साधु की अपेक्षा श्रावक श्रेष्ठ ही

रहा। ऐसी दशा मे साधु सुपात्र और श्रावक कुपात्र कैसे हो सकता है ?

तेरह-पन्थी साधु दूसरे सत्य व्रत को भी शास्त्र पाठ का विपरीत अर्थ करके तोड़ते है। यद्यपि इस विषयक सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं, लेकिन विषय बढ़ जावेगा और अभी इसमे आगे भी कुछ आवेगा ही, इसलिए यहां केवल एक ही उदाहरण देकर सन्तोष करते हैं।

उपासक दशांग सूत्र मे पन्द्रह कर्मादान बताकर श्रावको के लिए कहा है कि ये कर्मादान (व्यापार) श्रावको को जानने चाहिए, परन्तु इनका आचरण न करना चाहिये। उन पन्द्रह कर्मादान मे पन्द्रहवां कर्मादान 'असईजण पोसणया' है। इसका अर्थ है—असई यानी असती, जण यानी लोग, पोसणया यानी पोषण करना। अर्थात् असती (दुराचारिणी) स्त्रियों का पोषण करने का व्यापार करना। जैसा कि आजकल बम्बई आदि में होता है, कि कुल्टाओ को रखकर, उनके द्वारा आजीविका चलाते हैं। श्रावकों के लिए यह कर्म निषिद्ध है।

असई का अर्थ असंयति कदापि नहीं होता। 'अ' 'सई' का निषेधक है। मूल शब्द 'सई' है। 'सई' शब्द साधु के अर्थ में न तो है, न कहीं आया ही है। सई शब्द का अर्थ सती होता है सो 'अ' से सतीत्व का निषेध रूप। असती यानी कुल्टा

व्यभिचारिणी होता है। ऐसा होते हुए भी तेरह-पन्थी लोग 'भ्रम-विध्वंसन' पृष्ठ ८५ में 'सई' शब्द का अर्थ संयति, और 'असई' शब्द का अर्थ असंयति करते है। ऐसा अर्थ वे यह बताने के लिए करते है कि देखो, असंयति का पोषण करना, पन्द्रह कर्मादान मे से एक है, और पन्द्रह कर्मादान, श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य है, इसलिए असंयति (साधु के सिवाय अन्य लोगो) का पोषण करना पाप है। वे 'भ्रम-विध्वंसन' पृष्ठ ८५ मे लिखते हैं—

"तिहां 'असती जण पोसणया' तथा 'असई पोषणया' कह्यो छे। एह नो अर्थ केटलाक विरुद्ध करे छे *। अने इहां १५ व्यापार कह्यो छे। ति वारे कोई इम कहे इहाँ असंयति पोष व्यापार कह्यो छे। तो तुम्हें अनुकम्पा रे अर्थे असंयमी ने पोष्यां व्यापार किम कह्यो छो। तेहनो उत्तर—ते असंयती पोषी पोषी ने व्यापार करे। ते असंयती ने पोषे ते व्यापार नथी कहिये। परं पाप किम न कहिये। जिम कोयला करी बेचे ते 'अंगाल कर्म' व्यापार अने दाम विना आ लाय ने कोयला करी आपे ते व्यापार नथी-परं पाप किम न कहिये। तिम असंयती

---

* उनके कहने का अभिप्राय यह है कि कई लोग 'असती' (वेश्या आदि) पोषण अर्थ करते हैं।

पोषी पोषी आजीविका करे। दानशाला ऊपर रहे रोज-गार रे वास्ते तथा ग्वालियादिक दाम लेइ, गाय भैंस्यां आदि चरावे। इम कुक्कुट मार्जार आदिक पोषी पोषी आजीविका करे। आदिक शब्द में तो सर्व असंयति ने रोजगार रे अर्थे राखे ते असंयती व्यापार कहिये। अने दाम लियां बिना असंयती ने पोषे ते व्यापार नहीं। परं पाप किम न कहिये। ए तो पनरे १५ ई व्यापार छे ते दाम लेई करे तो व्यापार अने पनरे १५ ई दाम बिना खेवे तो व्यापार नहीं। परं पाप किम न कहिये।"

इस कथन का सार यह है कि पैसे लेकर असंयति (साधु के सिवाय और समस्त जीव) का पोषण करना तो 'असंयति पोषण' नाम का कर्मादान* (व्यापार) है, और बिना पैसे लिये असंयति का पोषण करना व्यापार तो नहीं है, लेकिन पाप तो है ही।

---

* पन्द्रह कर्मादान (व्यापार) महान पाप पूर्ण कार्य है, इस लिए श्रावक के लिए पन्द्रह कर्मादान का सेवन (यानी उन पन्द्रह व्यापार का करना) निषिद्ध है। तेरह-पन्थी कहते है कि पैसे लेकर असंयति का पोषण करना कर्मादान (पापपूर्ण) है और बिना पैसे लिए पोषण करना भी पाप है। इसके अनुसार यदि असंयति के साथ व्यापार किया जाता है, तो व्यापार करना भी पाप है और उनको मुफ्त चीज दी जाती है, तो वह भी पाप है। इसके लिए उन्होंने उदाहरण भी दिया

इस कथन में तेरह-पन्थियों के झूठ, कपट, छल और धूर्त्तता का दिग्दर्शन कराते हैं। पहिले तो उन्होंने लिखा कि असती जण पोसणया का अर्थ कितने ही लोग विरुद्ध करते है। उन्होंने यह लिखा तो सही, परन्तु फिर यह नहीं बताया कि विरुद्ध अर्थ क्या करते हैं और वास्तविक अर्थ क्या और क्यो है? ऐसा कुछ न कह कर इस बात को ही उड़ा देते है और जैसे बच्चे को समझाने के लिए बात पल्टा दी जाती है, उसी तरह बात प्लटाकर आप ही प्रश्न खड़ा करते है कि 'यहा तो असंयती पोप व्यापार कहा है, अनुकम्पा के लिए असंयती के पोषण को व्यापार कैसे कहते हो? यह प्रश्न खड़ा किया कैसे और किस अर्थ पर से असंयति पोप व्यापार कहाँ कहा है, यह वे ही जाने। हम पहिले कह चुके हैं कि 'असती जण पोपणया' का अर्थ असती स्त्रियों के पोपण द्वारा आजीविका चलाना है। यह अर्थ प्रसिद्ध भी है, शास्त्रानुसार भी है तथा शब्दानुसार भी है। इतना ही नहीं, किन्तु स्वयं तेरह-पन्थी भी 'भ्रम-विध्वंसन' पृष्ठ ८४ में कर्मादानो

है, जैसे दानशाला पर नौकरी करता है, वह कर्मादान तो नही है परन्तु पाप तो है, और पैसे लेकर गाय भैंस चराता है, वह कर्मादान है। इस प्रकार असयति से व्यापार सम्बन्ध, नौकरी सम्बन्ध रखना भी पाप है और पाप भी साधारण नही, कर्मादान का सेवन। कर्मादान का सेवन करना ऐसा पाप माना जाता है, कि उस पाप को करने वाला, श्रावक भी नहीं रह सकता।

का अर्थ बताते हुए असई पोसणिया का अर्थ 'वेश्या आदि ने पोपणआदिक कर्म, लिखते है । फिर भी इस अर्थ को एक ओर फेंक कर दया तथा दान का विनाश करने के लिए असई पोसणिया का अर्थ असंयति पोषण कर डाला, तथा उस पर प्रश्न उत्पन्न करके उसका समाधान भी कर डाला। धन्य है, सुपात्र साधुओ को ! क्या कोई श्रावक भी ऐसा कर सकेगा ?

तेरह-पन्थियो के झूठ, कपट और धोखेबाजी का एक और उदाहरण लीजिये। तेरह-पन्थी लोग 'भ्रम-विध्वंसन' पृष्ठ ८० मे लिखते है—

तथा ठाणांग ठाणे ४ उद्देश्या ४ में कुपात्र ने कुक्षेत्र कह्या । ते पाठ लिखिये छे।

"चत्तारि मेहा प० तं० खेत्तवासी णाम मेगे णो अक्खेतवासी, एवामेव चत्तारि पुरिस जाया प० तं० खेत्तवासी णाम मेगे णो अक्खेतवासी।

इहां पिण कुपात्र दान कुक्षेत्र कह्या पात्र रूप कुक्षेत्र में (पुण्य रूप) बीज किम उगे। डाहा हुवे तो विचारी जोइजो ।

यह है तेरह-पन्थियों का कथन । इस कथन द्वारा तेरह-पन्थी ठाणाग सूत्र के चौथे ठाणे के चौथे उद्देश्य की दी गई चौभंगी

से यह सिद्ध करते है कि इस चौभंगी में कुपात्रदान को कुक्षेत्र कहा। कुपात्र रूप कुक्षेत्र में पुण्य रूप वीज कैसे उग सकता है? परन्तु न तो पूरी चौभंगी दी, न पूरी उपमा उतारी, क्योंकि पूरी चौभंगी देते तो वहीं पोल खुल जाती।

अव जरा इस चौभंगी के अर्थ पर विचार कीजिये। यह चौभंगी चार प्रकार के मेघ की उपमा देकर, चार प्रकार के सम्पत्तिवान पुरुषों के भेद वताती है। इसमें कहा है—

चार प्रकार के मेघ कहे गये है। एक मेघ क्षेत्र में तो वरसता है, परन्तु अक्षेत्र मे नहीं बरसता। यानी जहां वरसना चाहिये, वहां तो वरसता है, और जहां न बरसना चाहिये, वहां नहीं वरसता। दूसरा मेघ अक्षेत्र मे वरसता है और क्षेत्र में नहीं वरसता। तीसरा मेघ क्षेत्र और अक्षेत्र दोनों ही में बरसता है। और चौथा मेघ न क्षेत्र मे वरसता है, न अक्षेत्र मे ही वरसता है इसी प्रकार चार प्रकार के पुरुष है। एक उस मेघ की तरह हैं, जो क्षेत्र मे वरसता है, परन्तु अक्षेत्र मे नहीं वरसता। दूसरे उस मेघ की तरह हैं, जो अक्षेत्र मे तो बरसता है, परन्तु क्षेत्र मे नहीं वरसता। तीसरे उस मेघ की तरह हैं, जो क्षेत्र में भी वरसता है और अक्षेत्र मे भी वरसता है। तथा चौथे उस मेघ की तरह है, जो क्षेत्र या अक्षेत्र कहीं भी नहीं वरसता।

यह इस चौभंगी का अर्थ है इसमे न तो कुपात्र दान का जिक्र है न कुपात्र, न कुक्षेत्र तथा पुण्य का जिक्र है। फिर भी तेरह-पन्थी लोग इस पाठ के अर्थ में इन सबको जबर्दस्ती यह सिद्ध करने के लिए घुसेड़ते हैं कि तेरह पन्थी साधुओं के सिवाय और सब कुपात्र हैं, इसलिए उनको दान देना पाप है।

इसी तरह सैकड़ों जगह लोगो को धोखे में डालने और अपने मत का प्रचार करने के लिए तेरह-पन्थी साधुओ ने कई जगह शास्त्र के अर्थ का अनर्थ अथवा इच्छानुसार अर्थ किया है जो लोग चाहे, वे भ्रम-विध्वंसन' ग्रन्थ देख सकते है, जिसका प्राप्तिस्थान भैरोदान ईश्वरचन्द चोपड़ा, गगाशहर (बीकानेर) लिखा है। हमारा अनुमान है कि 'भ्रम—विध्वंसन' के झूठ कपट की बातें अब खुल गई हैं, इसलिए पत्र लिखने पर भी 'भ्रम-विध्वसन' पुस्तक शायद ही प्राप्त हो। प्रयत्न कर देखिये, और यदि प्राप्त न हो तो फिर हमारे पास आकर देखिये।

कहना यह है कि इस तरह झूठ कपट का आश्रय लेनेवालो का सत्यव्रत क्या सुरक्षित रह सकता है ? झूठ कपट ही नहीं किन्तु जिसे झूठ मे झूठ, कपट मे कपट और माया में माया कहा जाता है, तेरह पन्थी साधु वैसा ही करते है। शास्त्र के विपरीत अर्थ की बात श्रावको को ज्ञात न हो जावे इसके लिए तेरह-पन्थी साधुओ ने श्रावको के लिए सूत्र पठन का ही निषेध कर दिया है

श्रावकों का सूत्र पठन, जिनाज्ञा के बाहर बताया है और जिनाज्ञा के बाहर के समस्त कार्यों को तेरह पन्थी साधु पाप कहते ही है। इस प्रकार श्रावकों का सूत्र पढना पाप ठहराया है। श्रावकों को सूत्र पढना पाप हैं, यह बताने और सिद्ध करने के लिए 'भ्रम-विध्वंसन' में पृष्ठ २६१ से ३७२ तक 'सूत्र पठनाऽधिकार' नाम का एक पूरा अध्याय ही है।

इन सब बातों के होते हुए तेरह-पन्थी साधुओं का दूसरा सत्य-व्रत शेष कहां रहा ? जैसा कि हम बता चुके है, तेरह-पन्थी साधु स्वीकृत-व्रत में से पहले, दुसरे और पांचवे व्रत का स्पष्टतया उल्लंघन करने वाले है, इसलिए वे ही कुपात्र हैं; लेकिन श्रावक ने जितने व्रत स्वीकार किये हैं उनका पूरी तरह से पालन करता है, इसलिए वह कुपात्र नहीं है।

इस प्रकरण मे हम बहुत लिख चुके है। अन्त में यह कह कर, हम इस प्रकरण को समाप्त करते हैं कि तेरह-पन्थी साधुओं का अपने सिवाय और सब लोगों को कुपात्र बताना तथा और किसी की रक्षा-सहायता को पाप बताना बिल्कुल झूठ, असंगत और मनघड़न्त सिद्धान्त है। अपने मत का प्रचार करने के लिए ही उन्होंने सुपात्र तथा कुपात्र शब्दो की कल्पना की है, और इन शब्दों का उपयोग दया दान को पाप ठहराने में किया है।



दान-पु य



तेरह-पन्थी लोग पुण्य का अलग बंधना नहीं मानते। वे कहते है कि—

'पुण्य तो धर्म लारे बंधे छे, ते शुभ योग छे, ते निर्जरा विना पुण्य निपजे नहीं।'

('भ्रम-विध्वंसन' पृष्ठ ८१)

इसके अनुसार तेरह पन्थी लोगो का कथन है कि पुण्य की उत्पत्ति निर्जरा के साथही होती है। बिना निर्जरा के पुण्य की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु जिस तरह खेत मे अनाज के साथ घास अपने आपही उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार निर्जरा के साथ पुण्य भी उत्पन्न होता है पुण्य स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न नहीं होता।

इसी दलील के आधार पर तेरह-पन्थी लोग साधु के सिवाय और किसी को दिये गये दान मे पुण्य नहीं, बताते है । वे कहते हैं कि जहां निर्जरा नही वहां पुण्य नहीं, और साधु के सिवाय जो दान दिया जाता है, उससे निर्जरा नहीं होती, इसलिए पुण्य भी नहीं होता । परन्तु उन लोगो का यह सिद्धान्त बिल्कुल झूटा है । 'श्री दशवैकालिक सूत्र' के पांचवे 'अध्ययन में जो जो आहार-पानी साधु के लिए प्रासुक होने पर भी अकलपनीक बताया है, वहा ऐसा कहा है कि 'पुणट्ठापगडं इमं' अर्थात् पुण्य के लिए बनाया हुआ यह पदार्थ मुझे नहीं कल्पता है, ऐसा साधु कहे । तब विचारने की बात है कि वह पुण्य के लिए बना हुआ साधु तो लेते नहीं, भगवान ने ऐसा आहार–पानी लेने की मनाई की है, तब वह पुण्यार्थ किसके लिए हुआ ? इससे स्पष्ट सिद्ध है कि पुण्य के लिए बनाया हुआ उसी को कहते है जो रंक, भिखारी, दुखी, पशु–पक्षी आदि के लिए बनाया गया हो । इसमे निर्जरा का कोई स्थान नही है । ऐसे दीन हीन अपंग अनाश्रितों को देने मे पुण्य ही होता है । इसलिए शास्त्रकार ने कहा है कि 'पुणट्ठा' इस पर से पुण्य, साधु के सिवाय देने से भी होता है और वह जीव को ऊँचा उठाने मे कारणभूत होता है ।

'श्री स्थानाग सूत्र' के नवमे स्थान मे नव प्रकार का पुण्य कहा है । वहां मूल–पाठ में "निर्वद्य, सावद्य या निर्जरा के साथ

होता है, ऐसा कोई विवरण नहीं है। टीकाकार ने यह बताया है कि—"पात्रायान्नदानाद्य तीर्थङ्करं नामादि पुण्य–प्रकृतिबंध स्तदन्न पुण्य एवं सर्वत्र"—इसका भाव यह है कि पात्र को अन्नादि देने से तीर्थङ्कर नामादि पुण्य–प्रकृति का बन्ध होता है और उनके सिवाय दूसरो को देने से दूसरी पुण्य–प्रकृति का बन्ध होता है, क्योंकि पुण्य- प्रकृतिए ४२ प्रकार की है सो उत्कृष्ट पात्र को देने से तीर्थङ्कर नाम जैसी उत्कृष्ट पुण्य-प्रकृति का बन्ध है और शेष, जैसे पात्र वैसी सामान्य विशेष पुण्य-प्रकृति जानना। परन्तु तेरह-पन्थी लोग साधु के सिवाय पुण्य प्रकृति का निषेध करने के लिए कहते है कि—

"अनेरा ने दीधां अनेरी प्रकृति नो बन्ध कह्यो छे ते अनेरी प्रकृति तो पाप नी छे"

('भ्रम-विध्वंसन' पृष्ठ ७९)

और भी कहते है कि—

अव्रत में दान दे जेहनो टालन रो करे उपायजी।
जाने कर्म बंधे छे म्हायरे म्हांने भोगवतां दुखदायजी ॥
अव्रत में दान देवां तणूं कोई त्याग करे मन शुद्धजी।
तिणरो पाप निरन्तर टालियो तिणरी वीर बखाणी बुद्धजी ॥

('सद्धर्म मण्डन' पृष्ठ १०१)

अर्थात्—अव्रती (जो साधु नहीं है) को दान देने से मुझे कर्म का बन्ध होगा, जिनको भोगना महा दुःखदायी होगा, ऐसा

समझ कर अव्रती (साधु के सिवा अन्य लोगो) को दान देने से बचने का उपाय करे। जो साधु के सिवाय अन्य लोगो को दान देने का शुद्ध मन से त्याग करता है, उसका पाप टल जाता है और भगवान महावीर उसकी बुद्धि की प्रशंसा करते है।

इस तरह साधु के सिवाय और सभी जीव को दान देना, पाप ठहरा कर तेरह पन्थी लोग, साधु* के सिवाय और को दान देने का त्याग कराते है। तेरह पन्थियो की इस मान्यता से—

(१) भूखे को भोजन; प्यासे को पानी, नंगे को वस्त्र; वर्षा, शीत व ताप से कष्ट पाते हुए को स्थान देना पाप है।

(२) कबूतरों को दाना डालना तथा गायो को घास डालना आदि भी पाप है।

(३) और तो ठीक, परन्तु अपने माता–पिता को भोजन देना और उनकी सेवा करना भी पाप है।

इसी तरह देना मात्र पाप हो जाता है, फिर वह चाहे ब्राह्मण को दिया गया हो, भिखारी को दिया गया हो, अपंग अपाहिज को दिया गया हो, कीड़ी कबूतर को दिया गया हो, गौशाला·

---

* यह बताया जा चुका है कि तेरह पन्थी साधु, केवल अपने को ही साधु मानते है, और किसी को भी साधु नहीं मानते है। वे व्रती का अर्थ साधु ही करते हैं, व्रतधारी श्रावक की गणना भी अव्रती और कुपात्र में करते है।

अनाथाश्रम आदि संस्थाओं को दिया गया हो, अथवा अपने माता पिता को दिया गया हो।

तेरह-पन्थी पुण्य तत्त्व का स्वतन्त्र उत्पादन मानते ही नहीं है, किन्तु यही मानते है कि पुण्य निर्जरा के साथ ही उत्पन्न होता है। लेकिन इस सम्बन्ध मे या तो तेरह-पन्थी लोग भूलते है, अथवा वे दान को पाप बताने के लिए ही ऐसा जान-बूझ कर मानते है। यदि पुण्य का उत्पादन स्वतन्त्र रीति से न हो सकता होता, तो पुण्य को अलग तत्त्व ही क्यो बताया जाता ? खेत मे अनाज के साथ उत्पन्न होने वाले घास का अलग वर्णन कोई नहीं करता। दूसरे, यदि निर्जरा के साथ पुण्य उत्पन्न होता है, तो पाप किसके साथ उत्पन्न होगा ? जैसे पुण्य और पाप भिन्न गुण वाले साथी है, दोनो आश्रव-तत्त्व की पर्याय है, उसी तरह संवर और निर्जरा भी भिन्न गुण वाले साथी हैं और वे मोक्ष तत्त्व का पर्याय रूप है। इसलिए जब पुण्य की उत्पत्ति निर्जरा के साथ ही मानी जाती है, तो पाप की उत्पत्ति किसके साथ मानी जावेगी ? फिर बेचारा पाप अकेला और स्वतन्त्र क्यों उत्पन्न होगा ?

तीसरी दलील और लीजिये ! निर्जरा दो तरह की होती है, अकाम और सकाम। अकाम निर्जरा तो बन्ध का ही कारण मानी जाती है, वह निर्जरा ऐसी नही है जो नये कर्म का बन्ध न

कराती हो। दूसरी सकाम निर्जरा है। सकाम निर्जरा सम्यग् दृष्टि ही कर सकता है, मिथ्या दृष्टि कर नहीं सकता। सकाम निर्जरा आत्मा को मोक्ष प्राप्त कराने वाली मानी गई है, और यदि मिथ्या दृष्टि भी सकाम निर्जरा कर सकता हो, और सकाम निर्जरा करके मोक्ष प्राप्त कर सकता हो, तो फिर सम्यक्त्व व्यर्थ हो जावेगा। फिर सम्यक्त्व की कोई आवश्यकता ही न रहेगी।

जब मिथ्यादृष्टि भी सकाम निर्जरा कर मोक्ष प्राप्त कर सकेगा, तब सम्यक्त्व की क्या कीमत रही? इसलिए सम्यग्दृष्टि ही सकाम निर्जरा कर सकता है। जीव सम्यग्दृष्टि तभी माना जाता है जब कि निश्चय में तो दर्शन सप्तक यानी अनन्तानुबन्धी चौकड़ी एवं मिथ्यात्व मोहिनी, मिश्र मोहनीय तथा सम्यक्त्व मोहिनी इन सात प्रकृतियो का क्षयोपशम करे और व्यवहार मे जीवा जीवादि नव-तत्वो को समझे तथा देव गुरु धर्म का स्वरूप समझकर शुद्ध देव गुरु धर्म की श्रद्धान् करे, तब सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। जहां तक सम्यक्त्व नहीं होता, सकाम निर्जरा नहीं कर सकता। पुण्य—बन्ध तो पहिले से लगा कर तेरहवें गुणस्थान तक सभी जगह होता है। जब आत्मा एकेन्द्रिय अवस्था में होता है, वहां पर सम्यक्त्व तो होता ही नहीं और सम्यक्त्व बिना सकाम निर्जरा नहीं, तब बिना निर्जरा के पुण्य—

प्रकृति कैसे बन्धती है ? यदि पुण्य-प्रकृति का निकाश नहीं माना जावे तो एकेन्द्रिय जीव, द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक कैसे पहुंचे ?

सम्यक्त्व तो पंचेन्द्रिय को ही प्राप्त होती है, वहां तक पुण्य-प्रकृति कैसे बंधे ? और सुनिये ! प्रथम गुणस्थान में वर्तते हुए जीव को ११७ प्रकृति का बन्ध बताया है, जहां ३९ पुण्य-प्रकृति है । वहां सकाम निर्जरा तो है नहीं, फिर बिना सकाम निर्जरा के पुण्य प्रकृति बंधी या नहीं ? इसलिए यही मानना होगा कि पुण्य का उत्पादन निर्जरा के बिना भी हो सकता है और पुण्य रहित निर्जरा भी हो सकती है । यानी एकान्त रूप से पुण्य भी उत्पन्न होता है, और एकान्त रूप से निर्जरा भी होती है । यदि पुण्य रहित निर्जरा का होना न माना जावेगा, तो उस दशा में जीव को कभी मोक्ष हो ही नहीं सकता । क्योंकि निर्जरा के साथ पुण्य की उत्पत्ति आवश्यक मानने पर जीव जैसे जैसे कर्म की निर्जरा करेगा, वैसे ही वैसे पुण्य उत्पन्न होता रहेगा और जब तक पुण्य तथा पाप दोनों ही नहीं छूट जाते, तब तक मोक्ष नहीं हो सकता ।

मतलब यह कि तेरह-पन्थियों का यह कहना बिलकुल गलत है कि पुण्य तो निर्जरा के साथ ही होता है, निर्जरा के बिना पुण्य नहीं होता । इसके लिए तेरह-पन्थी लोग खेत के अनाज और घास का जो उदाहरण देते है, उसी उदाहरण का उपयोग

हम भी करते है और कहते हैं कि जिस तरह घांस, खेत मे अनाज के साथ आप ही उत्पन्न हो जाती है और कभी अनाज के न होने पर भी उत्पन्न होती है, तथा कभी केवल घांस ही उत्पन्न की (बोई) जाती है, उसी तरह पुण्य कभी निर्जरा के साथ भी उत्पन्न होता है, कभी निर्जरा के बिना भी उत्पन्न होता है, और कभी केवल पुण्य ही उत्पन्न किया जाता है । जिस प्रकार आवश्यकतानुसार घास भी उपादेय माना जाता है, उसी प्रकार आवश्यकतानुसार पुण्य भी उपादेय है । जिस प्रकार आवश्यकता पूरी होजाने पर घांस फेंक दी जाती है, उसी प्रकार आवश्यकता पूरी हो जाने पर पुण्य भी त्याग दिया जाता है। परन्तु जिस प्रकार आवश्यकता होने पर घांस भी उगाई जाती है, घास की भी रक्षा की जाती है, उसी प्रकार आवश्यकता के लिए पुण्य भी उत्पन्न किया जाता है, और पुण्य की भी रक्षा की जाती है ।

जिन लोगो के पास पशु अधिक होते है, वे अनाज के उत्पादन की अपेक्षा घास के उत्पादन का अधिक प्रयत्न करते है, बल्कि कभी कभी तो बोये हुए अनाज का उपयोग भी घास के बदले करते हैं । उसी प्रकार जो लोग संसार व्यवहार में है, वे भी निर्जरा करने की अपेक्षा पुण्य का अधिक उत्पादन कर सकते है, और करते भी हैं । वही पुण्य आगे कभी निर्जरा करने मे

सहायक हो जाता है। इसीलिए शास्त्र में नव प्रकार के पुण्य कहे गये हैं, जो दान द्वारा तथा मन, वचन, काय की शुभ प्रवृत्ति द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं तथा पुण्योत्पादन का आदर्श रखने के लिए ही तीर्थंकर लोग दीक्षा लेने से पहले एक वर्ष तक सोनैयो का दान देते है।

तीर्थंकर लोग सोनैयों का जो दान देते हैं, वह दान साधु तो लेते ही नहीं हैं, असाधु ही लेते हैं। यदि तीर्थंकरों के उस दान से पुण्य का उत्पन्न होना न माना जावेगा, तो फिर तेरह-पन्थियो की मान्यता के अनुसार उस दान को पाप मानना होगा। क्योंकि तेरह-पन्थियो की ये मान्यताएँ हम ऊपर बता चुके हैं कि—

(१) अव्रती को दान देना पाप है।

(२) पुण्य से अनेरी (दूसरी) प्रकृति पाप की है।

इन मान्यताओ के अनुसार तीर्थंकरों द्वारा दिया गया दान पाप ठहरता है। लेकिन तेरह पन्थियो का यह साहस भी नहीं होता कि तीर्थंकरो द्वारा दिये गये दान को वे पाप कह डाले। इसलिए वे यह कहते है कि 'यह तो तीर्थंकरों की रीति है'। दूसरी बात यह कहते है कि तीर्थंकर जो सोनैया दान देते है, वे सोनैया देवताओ के लाये हुए होते हैं। बहुत ठीक, परन्तु देवो के दिये हुए सोनैया या अन्य चीजों का दान करने से पाप तो नहीं होता न? तब तो पुण्य ही होगा? क्योंकि जहां पुण्य

नहीं, वहां पाप मानते हो; तो जहां पाप नहीं, वहां पुण्य का होना क्यों न मानोगे ? यदि किसी आदमी को, देवों का, राजा का या बाप-दादा का या जमीन मे गड़ा या पड़ा हुआ, बहुतसा धन मिला और उसने लँगड़ो, लूलों, भिखारियों को बांट दिया, अथवा अनाथाश्रम, अपंगाश्रम या पांजरापोल को दे दिया, तो आपकी दृष्टि में उस आदमी का यह दान पाप में रहा या पुण्य मे ?

यदि तेरह-पन्थी लोग ऐसे दान को पुण्य मे माने, तब तो फिर उन्हें साधु के सिवाय अन्य लोगो को दिये गये दान मे पुण्य मानना ही पडेगा; परन्तु तेरहपन्थी लोग, इस तरह के दान को पुण्य नहीं मानते, अपितु पाप मानते है। तब तीर्थंकरो द्वारा दिया गया दान, पाप क्यो नहीं रहा ? उसको पाप कहने मे संकोच क्यों होता है।

तेरह-पन्थी लोग कहते हैं कि तीर्थंकरो की दान देने की रीति है, इससे वे दान देते हैं। अतः उसमें पुण्य भी नही है और पाप भी नहीं है। इसी प्रकार राजा श्रेणिक ने अपने राज्य मे किसी जीव को न मारने की घोषणा कराई थी, उसके लिए भी कहते है—

श्रेणिक राजा पटहो फिरावियो यह तो जाणो हो मोटा राजां री रीत। भगवन्त न सराह्यो तेहने तो किम आवे हो तिणरी परतीत।

('अनुकम्पा' ढाल ७ वीं)

अर्थात्--श्रेणिक राजा ने जो अमारी घोषणा (जीव न मारने विषयक) कराई थी, वह तो बड़े राजाओं की रीति है। भगवान ने उस कार्य की सराहना नहीं की, तब उस कार्य को धर्म कैसे जाना जावे ?

इस तरह तीर्थंकरो द्वारा दिये गये दान को और श्रेणिक राजा की जीव न मारने विषयक घोषणा को 'रीति' कहकर एक ओर निकाल देते हैं। ये काम 'रीति' से होते हैं, इसलिए इनमें न धर्म मानते है, न पुण्य मानते है और पाप भी कहने की हिम्मत नही करते। परन्तु यदि 'रीति' होने से ही तीर्थंकरों द्वारा दिया गया दान, तथा श्रेणिक राजा द्वारा कराई गई घोषणा, धर्म, पुण्य या पाप तीनो में से किसी मे नहीं है, तो फिर श्रावक का जिमाना, या विवाहोपलक्ष्य मे भात, बरोठी (भात लड़की वाले की ओर से दीगई रसोई का नाम है और बरोठी लड़के वाले की ओर से दीगई रसोई का नाम है) आदि मे एकान्त पाप कैसे हो सकता है ? क्योंकि ये काम भी तो रीति के अनुसार ही किये जाते हैं रीति के अनुसार दिया गया तीर्थंकर द्वारा दान और राजा श्रेणिक की घोषणा यदि पाप के अन्दर नही है, तो रीति के अनुसार कराये गये ज्ञाति भोजन, सम्बन्धी भोजन या सहधर्मी भोजन, पाप क्यो है और यदि 'रीति' के कारण किये जाने पर भी इन कामो मे पाप होता है, तो तीर्थंकरो द्वारा दिया गया

दान और राजा श्रेणिक द्वारा कराई गई घोषणा पाप क्यो नहीं है ? भात, बरोठी, सगे-सम्बन्धी तथा श्रावक को जिमाने के सम्बन्ध में तो तेरह-पन्थी कहते है —

छः काया जीवां ने जीव सू मारी ने सगा सयण न्यात जिमावेजी। यह प्रत्यक्ष छे सावद्य संसार ना कामों तिण में धर्म बतावेजी।

('अनुकम्पा' ढाल ६ वीं)

अर्थात——छः काय के जीवो को जान से मारकर सम्बन्धी, मित्र और न्यात को जिमाना प्रत्यक्ष ही पाप पूर्ण और संसारवृद्धि का काम है, लेकिन कुगुरु लोग इस काम में भी धर्म बताते है।

श्रावक ने मां हो मां ही छः काय खवावे, छः काय मारी ने जिमावे। यह जीव हिंसा रो राह खोटो, तिण मां ही धर्म अनार्य बतावे ॥ १ ॥

('अनुकम्पा' ढाल १२ वीं)

खर्च आधरणी ने भात वरोठी, अनेक आरम्भ कर न्यात जिमावे। ये सब संसार तणा कर्तव्य छे, तिण मां ही मूरख धर्म बतावे ॥ १० ॥

('अनुकम्पा' ढाल १२ वी)

अर्थात–श्रावक परस्पर छः काय के जीव खिलाते है, और

छः काय के जीवो को मारकर जिमाते है। यह जीव-हिंसा का मार्ग ही बुरा है, लेकिन अनार्य लोग इसमे भी धर्म बताते हैं ॥ १ ॥

रुपया खर्च कर अनेक आरम्भ करके अघरणी (गर्भवती का आठवे या सातवे मास का उत्सव) भात, बरोटी आदि न्याति वाले को जिमाते है। ये सब संसार बढाने के काम हैं (यानी पाप है.) लेकिन मूर्ख लोग इनमे धर्म बताते है।

इस तरह सम्बन्धी, स्नेही, स्वधर्मी (श्रावक) और न्याति को जिमाना तो 'रीति' के अनुसार होने पर भी तेरह-पन्थी लोग पाप कहते है, फिर तीर्थङ्करो द्वारा दिये गये दान को और श्रेणिक की जीव हत्या न करने की घोषणा को पाप क्यो नही कहते ? जब ये सभी काम रीति के अनुसार है, तब एक पाप हो, और दूसरा पाप नहीं, इसका क्या अर्थ ? यह तो स्पष्टही जनता को धोखे मे डालना है।

साधुओ के सिवा अन्य लोगो को दिया गया दान, तथा मित्र, स्नेही, सम्बन्धी, ज्ञाति आदि को भोजन कराना एकान्त पाप नही है, यह हम अगले प्रकरण मे बतावेगे। यहा तो केवल इतना ही बताना इष्ट है कि तेरह-पन्थी लोग, अनुकम्पा दान के दुश्मन बनकर किस तरह लोगो को चक्कर मे डालते है, और किस तरह कहीं कुछ तथा कहीं कुछ मानते हैं।



दान करना पाप नहीं है



यद्यपि दया और दान जैन धर्म के प्राण हैं। किसी भी मरते हुए जीव को बचाना और किसी नंगे भूखे या कष्ट पाते हुए का कष्ट मिटाना न तो पाप है, और न इन तेरह-पन्थियों के सिवा कोई पाप मानता ही है, इस लिए इनको सिद्ध करने हेतु कोई भी प्रयत्न करना सूर्य को दीपक बताने के प्रयत्न के समान व्यर्थ है। फिर भी तेरह-पन्थी साधु अपनी कुयुक्तियों से भोले लोगों के हृदय में यह ठसाने का प्रयत्न करते हैं कि किसी मरते हुए जीव को बचाना, अथवा साधुओं के सिवा अन्य किसी को कुछ देना, पाप है। लेकिन उनका यह कथन शास्त्र के भी विरुद्ध है, और व्यवहार के भी विरुद्ध है।

साधु के सिवा अन्य लोगों को दान देना अथवा मित्र, सम्बन्धी, स्वधर्मी आदि को खिलाना-पिलाना पाप है, यह सिद्ध करने के लिए तेरह-पन्थी लोग आनन्द श्रावक का उदाहरण सामने रखते हैं, कि देखो आनन्द श्रावक ने भगवान महावीर के सामने यह प्रतिज्ञा की थी, कि मैं श्रमण व निर्ग्रन्थ के सिवाय और

किसी को आहार पानी न दूँगा, न उनका स्वागत सत्कार ही करूँगा आदि। ऐसा उदाहरण देकर तेरह-पन्थी लोग इस पर से यह दलील करते है, कि यदि साधु के सिवाय अन्य लोगो को दान देना तथा खिलाना-पिलाना या स्वागत सत्कार करना पाप न होता, तो आनन्द श्रावक ऐसा अभिग्रह क्यो लेता ? और भगवान महावीर ऐसा अभिग्रह क्यो कराते ? आदि।

इस तरह आनन्द श्रावक के अभिग्रह के नाम से साधु के सिवाय अन्य लोगों को दान देना पाप बताते हैं। यद्यपि आनन्द श्रावक ने जो अभिग्रह लिया था, वह अन्य युथिक साधुओं को गुरु बुद्धि से दान देने के विषय में ही लिया था, ऐसा तेरह-पन्थियो के सिवाय वे सभी जैन मानते है—जो उपासक दशांग सूत्र को मानने वाले है, परन्तु यह बात तेरह-पन्थियो को स्वीकार नहीं है। वे इस सम्बन्ध में बहुतसी दलीले करते हैं, और कहते है कि आनन्द श्रावक का अभिग्रह साधु के सिवाय सब के लिए था।

हम इन दलीलो मे अभी न पड कर, आनन्द श्रावक के चरित्र से ही यह सिद्ध करते है कि साधु के सिवाय अन्य लोगो को दान देना या मित्र, ज्ञाति, कुटुम्बी, स्वजन, सम्बन्धी आदि को खिलाना-पिलाना या देना लेना पाप नही है। हम जो कुछ कहेगे, उससे यह भी स्पष्ट हो जावेगा कि वास्तव मे आनन्द

श्रावक ने जो अभिग्रह किया था, वह सब लोगों के लिए नहीं था, किन्तु केवल अन्य युथिक साधुओं को दान देने आदि के विषय मे ही था और वह भी केवल गुरु बुद्धि से।

आप आनन्द श्रावक के चरित्र को देखिये। "किसी समय आधी रात के पश्चात् धर्म जागरणा करते हुए आनन्द श्रावक ने इस प्रकार का अध्यवसाय (विचार) और मनोगत संकल्प किया कि मैं इस वाणिज्य ग्राम नगर के बहुत से राज्याधिकारी एवं समस्त कुटुम्ब के लिए आधार भूत हूँ, इस कारण उनके कामो मे पडने से मैं, भगवान महावीर के पास से जो धर्म स्वीकार किया है, उस धर्म को पुरी तरह पालने मे समर्थ नहीं हूं ? इस लिए मैं कल सूर्योदय होने पर बहुतसा असन पान खाद्य और स्वाद्य (भोजन, पेय, उपभोजन और स्वाद्य) निपजाकर मेरे मित्र ज्ञाति आदि को जिमाकर तथा मित्र ज्ञाति और बड़े पुत्र की सम्मति लेकर, कोल्लाक सन्निवेश की पौपधशाला मे भगवान महावीर से स्वीकृत धर्म का पालन करता हुआ विचरूँगा। इस तरह निश्चय करके आनन्द श्रावक ने सूर्योदय होने पर बहुत सी खाने पीने आदि की सामग्री बनवाई, और मित्र ज्ञाति तथा नगर के लोगो को बुलाकर उनको खिलाया-पिलाया, तथा पुष्प-वस्त्र आदि से उन सब का सत्कार सम्मान किया। फिर उन सब के सामने अपने बड़े पुत्र को बुलाकर उससे कहा, कि हे पुत्र। जिस प्रकार

मै वाणिज्य ग्राम में बहुतों के लिए, राजादि के लिए तथा कुटुम्ब के लिए आधार होकर रहता था, उसी तरह तुम भी सब के लिए आधार होकर रहना।

आनन्द श्रावक के लिए जो पाठ ऊपर दिया गया है, उसको सूत्र मे पूर्ण सेठ का उदाहरण देकर संक्षिप्त कर दिया है। इस पाठ से स्पष्ट है कि आनन्द श्रावक ने धर्म जागरण करते हुए खान-पानादि की सामग्री बनवाकर ज्ञाति के लोग और मित्रादि को भोजन कराने का संकल्प किया था। उस संकल्प के अनुसार आनन्द श्रावक ने सवेरे बहुतसी खान-पान आदि की सामग्री बनवाई, तथा मित्र ज्ञाति और नगर के लोगो को भोजन कराकर उनको पुष्प-वस्त्रादि अर्पण कर उनका सत्कार सम्मान भी किया।

अभिग्रह के पाठ से इस पाठ का मिलान करने से स्पष्ट है कि आनन्द श्रावक का अभिग्रह साधु के सिवाय सबके लिए नहीं था, किन्तु केवल अन्य तीर्थी साधुओ के लिए ही था, और वह भी गुरु बुद्धि पूर्वक दान देने तथा सत्कार सम्मान करने के लिए। यदि आनन्द का अभिग्रह सभी के लिए होता, तो आनन्द मित्र, ज्ञाति और नगर के लोगो के लिए भोजनादि बनवा कर उनको जिमाता क्यो, उनका सत्कार सम्मान क्यो करता, तथा उन्हे वस्त्र-पुष्पादि क्यों देता ?

आनन्द श्रावक का यह कार्य उसके द्वारा रखे गये किसी आगार के अन्तर्गत भी नहीं आता है। क्योंकि उसने सब को भोजन कराने आदि विषयक जो निश्चय किया था, वह अपने मन से ही किया था, ऐसा शास्त्र का स्पष्ट पाठ है। उससे राजा गण, बलवान, गुरुजन आदि किसी ने भी यह नहीं कहा था कि तुम सब को भोजन कराओ या वस्त्रादि दो।

आनन्द श्रावक ने अपने इस कार्य के लिए कोई प्रायश्चित भी नहीं लिया था। और तो क्या, उसने सबको खिलाने का जो निश्चय किया था, वह भी धर्म जागरणा करते हुए। यदि पुरजन आदि किसी को खिलाना अथवा किसी को कुछ देना पाप होता, तो आनन्द श्रावक ऐसा पाप क्यो करता? उसने यह कार्य भूल से किया हो, ऐसा भी नहीं है। क्योंकि शास्त्र का यह पाठ स्पष्ट है कि आनन्द श्रावक ने जो व्रत लिये थे, या जो प्रतिज्ञा की थी उनका अर्थ भी भगवान से समझ लिया था।

यदि तेरह-पन्थियो के कथनानुसार मित्र, ज्ञाति सम्बन्धी आदि को खिलाना-पिलाना या देना पाप होता तो आनन्द श्रावक के लिए ऐसा कोई कारण न था, जो वह ऐसा पाप करता क्योंकि आनन्द श्रावक ने यह कार्य विशेष निवृत्ति बढ़ाते समय श्रावकपने मे किया था। इस प्रकार इस पाठ से सिद्ध है कि—

(१) आनन्द श्रावक ने जो अभिग्रह किया था, वह अन्य तीर्थी साधुओं को गुरु बुद्धि से देने के विषय में ही था। साधुओं के सिवाय और किसी को भोजन कराना या कुछ देना पाप है, इस दृष्टि से आनन्द का अभिग्रह नहीं था।

(२) मित्र, स्नेही, ज्ञाति तथा अन्य लोगों को खिलाना-पिलाना या वस्त्रादि देना पाप नहीं है। यदि पाप होता, तो आनन्द श्रावक यह पाप क्यों करता, जब कि वह विशेष निवृत्ति करने जा रहा था। और अभिग्रह भंग करके करता तो विराधक माना जाता आलोचना भी करता, सो कुछ भी अधिकार उपासक-दशांग में नहीं है।

आनन्द श्रावक के लिए यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि आनन्द श्रावक सब के लिए आधार भूत था। आनन्द श्रावक के वर्णन में यह बात कई बार आई है कि आनन्द श्रावक सब के लिए आधार था और आनन्द श्रावक ने अपने लड़के से भी यही कहा था, कि तुम भी सबके लिए आधार होकर विचरना। कोई भी आदमी किसी के लिए तभी आधार हो सकता है, जब कि वह आधार बना हुआ व्यक्ति आधेय व्यक्ति के प्रति उदारता पूर्ण व्यवहार रखे, और आधेय व्यक्ति को समय २ पर कुछ देता भी रहे, उनका कष्ट भी मिटाता रहे। बिना ऐसा किये कोई भी व्यक्ति

किसी के लिए आधार कैसे माना जा सकता है ? आनन्द में ये सभी बातें थी, तभी तो वह सब के लिए आधार भूत था।

तेरह-पन्थी लोग इन सभी बातो को पाप मानते हैं। परन्तु यदि ये बाते पाप होती, तो आनन्द श्रावक इन सब बातो का भी त्याग कर देता। लेकिन आनन्द श्रावक जब तक संसार व्यवहार में रहा, तब तक सब के लिए आधार बना रहा, और संसार व्यवहार से निवृत्त होते समय उसने अपने लड़के को भी यही शिक्षा दी कि सब के लिए आधार बनकर रहना। इससे स्पष्ट है, कि आधार बनने के लिए, आनन्द मे दूसरे की सहायता करना, दूसरे का दुःख मिटाना और दूसरे के प्रति उदारता पूर्ण व्यवहार रखना आदि जो बाते थीं, वे बाते पाप रूप नहीं थीं, किन्तु पुण्य रूप ही थीं।

तेरह-पन्थियो की मान्यतानुसार तो दाम लेकर असंयति का पोपण करना, पन्द्रह कर्मादानों में का एक कर्मादान है, यानी अनाचरणीय पाप है, और बिना दाम लिये भी असंयति का पोपण करना पाप है (जैसा कि हम पिछले कुपात्र सुपात्र के प्रकरण में तेरह-पन्थियो द्वारा शास्त्र के गलत अर्थ करने के उदाहरणो मे बता चुके है)। लेकिन यदि तेरह-पन्थियों का यह कथन सही होता, तो आनन्द श्रावक ऐसे पाप क्यो करता ?

आनन्द श्रावक के विषय मे एक बात यह भी ध्यान में रखने की है, कि आनन्द श्रावक ने मित्र ज्ञाति आदि को भोजन कराने

का जो निश्चय किया था, वह धर्म जागरणा करते हुए। यदि इस तरह का विचार पाप होता, तो शास्त्रकार यह लिखते कि धर्म जागरणा करते हुए उसको इस तरह का पाप पूर्ण विचार हुआ। उसके विचार को धर्म जागरणा के ही अन्तर्गत न मानते।

आनन्द श्रावक के चरित्र से तेरह-पन्थियों का यह कथन तो झूठ ही ठहरता है कि श्रावक, सम्बन्धी और न्याति गोति आदि को खिलाना पाप है। यदि तेरह-पन्थियो का कथन सही माना जावे, तो उसके साथ यह मानना होगा, कि आनन्द श्रावक ने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ी थी। क्योंकि हम यह बता चुके हैं कि आनन्द श्रावक ने सबको खिलाने पिलाने आदि का जो निश्चय किया था, तथा सबको जो खिलाया पिलाया था, वह किसी भी आगार के अन्तर्गत नहीं आता है। और आनन्द श्रावक ने अपना कोई व्रत अभिग्रह तोड़ा हो, ऐसा शास्त्र मे कोई पाठ भी नहीं है। इसलिए इस सम्बन्ध मे तेरह-पन्थियो की कोई भी दलील सत्य नही ठहरती है।

साधु के सिवाय अन्य लोगो को दान देना पाप नही है, यह सिद्ध करने के लिए हम एक दूसरा शास्त्रीय प्रमाण भी देते हैं। 'राय प्रसेणी' सूत्र मे राजा प्रदेशी का वर्णन आया है। राजा प्रदेशी पहिले नास्तिक था। नास्तिक होने के कारण, वह किसी को दान दे, यह सम्भव नहीं है, बल्कि यही सम्भव है, कि वह दूसरे के

पास जो कुछ हो, वही छीन ले। परन्तु केशी श्रमण का उपदेश सुन कर उसने केशी स्वामी के सामने यह प्रतिज्ञा की कि—

अहं णं सेयंविया पामोक्खाइं सत्तग्गाम सहस्साइं चत्तारि भागे करिस्सामि। एगे भागे बल वाहणस्स दल इस्सामि, एगे भागे को गारे दलइस्सामि, एगे भागे अन्ते-उरस्स दलइस्सामि, एगेण भागेणं महइ महालिय कूडागार सालं करिस्सामि। तत्थणं बहु हिं पुरिसेहिं दिण्णभत्ति भत्तावेयणोहिं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्ख-डावेत्ता बहुणं समण माहण भिक्खुयाणं पंथि पहियाणय परिभोये माणे बहुहिं सीलवय, पच्चक्खाणं पोसहोववासेहिं जाव विहरिस्सामि।

अर्थात्—मै श्वेताम्बिका नगरी प्रभृति सात हजार ग्रामों को (यानी मेरे राज्य को) चार भागो मे बाटकर एक भाग बल वाहन (फौज वगैरा) के लिए दूंगा, एक भाग खजाने के लिए दूंगा, एक भाग अन्तःपुर के लिए दूँगा और एक भाग से एक बहुत बड़ी दानशाला बनवा कर, उसमे बहुतसे नौकर रखकर बहुतसा अशन पान खाद्य स्वाद्य (खाने पीने के पदार्थ) बनवा कर श्रमण (साधु), माहन (ब्राह्मण या श्रावक), भिक्षुक और मार्ग चलते

हुए लोगों को खिलाता पिलाता हुआ, शील व्रत प्रत्याख्यान पौषधोपवास करता हुआ विचरूंगा।

इस शास्त्र पाठ से भी सिद्ध है कि साधु के सिवाय अन्य लोगो को दान देना एकान्त पाप नहीं है। इसी प्रकार साधुओ के लिए भी दीन-दुःखी भिक्षुक आदि को दान देने के लिए उपदेश देना, पाप नही है। यदि साधु के सिवाय अन्य लोगो को दान देना, या देने का उपदेश देना एकान्त पाप होता, तो केशी श्रमण राजा प्रदेशी को दान देने के लिए- उपदेश ही कैसे देते और राजा प्रदेशी, श्रावक बनने के पश्चात् सबको दान देने के लिए-दानशाला बनवाने की केशी स्वामी के सामने प्रतिज्ञा ही क्यो करता ? यह बात तो थोड़ी बुद्धि वाला भी समझ सकता है कि जो प्रदेशी राजा नास्तिक था, दान-पुण्य, आत्मा-परमात्मा या साधु भिक्षुक आदि किसी को मानताही न था, उसको यदि केशी श्रमण ने दान देने का निषेध कर दिया होता, तो वह दानशाला विषयक योजना कैसे बनाता, तथा वह योजना केशी श्रमण को क्यो सुनाता ? इससे स्पष्ट है, कि—

(१) दीन-दुःखी भिखारी आदि को दान देना एकान्त पाप नहीं है।

(२) साधु का इस विषयक उपदेश देना भी एकान्त पाप नहीं है, किन्तु इस विषय परत्वे निषेध करना ही पाप है।

यहां पर तेरह-पन्थी लोग एक दलील देते है। उस दलील का उत्तर देना भी आवश्यक है। तेरह-पन्थी लोग कहते है कि राजा प्रदेशी की दानशाला खोलने विषयक प्रतिज्ञा सुनकर भी केशी श्रमण मौन ही रहे। केशी श्रमण कुछ बोले नहीं, मौन रहे, इस लिए राजा प्रदेशी का दानशाला खोलना पाप है। क्या ही मजेदार दलील है? इस दलील के अनुसार जिस बात को सुनकर साधु चुप रहे, वह बात पाप मे ही मानी जावेगी। परन्तु राजा प्रदेशी ने दानशाला की बात कहते हुए यह भी कहा था कि 'मै शील प्रत्याख्यान और पौषध उपवास करता हुआ विचरूँगा'। राजा प्रदेशी के इस कथन को सुनकर भी केशी मुनि कुछ नहीं बोले थे। इस लिए क्या शील प्रत्याख्यान और पौषध उपवास भी पाप है? केशी मुनि के न बोलने पर भी यदि शील प्रत्याख्यान और पौषध उपवास पाप नहीं है, तो दानशाला खुलवाना तथा दान देना ही पाप क्यो हो जावेगा? और यदि साधु के सिवाय अन्य लोगो को देना पाप था, तो केशी श्रमण ने राजा प्रदेशी के दानशाला खोलने विषयक विचार की निन्दा क्यो नहीं की थी? यदि यह कहा जावे कि दानशाला खोलने विषयक विचार की निन्दा करने से बहुत से लोगों को अन्तराय लगती, तो तेरह—पन्थियो का य कथन, उन्हीं के कथन के विरुद्ध होगा। तेरह-पन्थी लोग 'भ्रम-विध्वंसन' पृष्ट ५१ ५२ में स्पष्ट कहते है, कि—

'वर्तमान काले देतो लेतो देखी पाप कह्याँ अन्तराय लागे। अने उपदेश में हुवे जिसा फल बतायां अन्तराय लागे नहीं । अनेक ठामे असंयती ने दान देवे तेहना कडुआ फल उपदेश में श्री तीर्थङ्कर देवे कह्या छे । ते भणी उपदेश में पाप कह्याँ अन्तराय लागे नहीं । उपदेश में छे जिसा फल बतायां अन्तराय लागे तो मिथ्या दृष्टि रो सम्यग्दृष्टि किम हुवे । धर्म अधर्म री ओलखना किम आवे, ओलखणा तो साधु री बताईज आवे छे ।'

अर्थात्—वर्तमान काल में देना लेता देखकर पाप कहने से अन्तराय लगती है, परन्तु उपदेश मे जैसा फल हो वैसा फल बताने से अन्तराय नहीं लगती । उपदेश मे तो तीर्थङ्करो ने अनेक जगह असंयति को दान देने का कटु फल कहा है । इसलिए 'असंयति को दान देना पाप है', ऐसा उपदेश मे कहने से अन्तराय नहीं लगती । यदि उपदेश मे असयति को दान देने का कटु फल बताने से अन्तराय लगती हो, तो मिथ्या-दृष्टि व्यक्ति सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ? धर्म अधर्म की पहचान कैसे हो सकती है ? धर्म अधर्म की पहचान तो साधु के बताने से ही जानी जाती है

तेरह-पन्थियो के इस कथनानुसार राजा प्रदेशी के दानशाला खोलने विषयक विचार को पाप बताने में केशी श्रमण को किसी

भी तरह की बाधा नहीं आती थी । क्योंकि केशी श्रमण के सामने राजा प्रदेशी, किसी को भी कुछ दे नहीं रहा था, इसलिए केशी श्रमण उपदेश में राजा प्रदेशी को यह कह सकते थे कि—

'तेरा दानशाला खोलकर सबको दान देने का विचार पापपूर्ण है ।'

यदि साधुओं के सिवाय अन्य लोगों को दान देना पाप है, और फिर भी केशी श्रमण ने इस पाप—कार्य की पहचान राजा प्रदेशी को नहीं कराई, इस पाप का फल राजा प्रदेशी को नहीं बताया, तो उस दशा मे केशी श्रमण अपने कर्तव्य से पतित माने जावेगे । क्योकि तेरह-पन्थी स्वयं कहते है कि— 'यदि उपदेश में असंयति को दान देने का कटुफल बताने से अन्तराय लगती हो, तो मिथ्यादृष्टि व्यक्ति सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ? और धर्म अधर्म की पहिचान कैसे हो सकती है ? धर्म अधर्म की पहचान तो साधु के बताने से ही जानी जाती है ।' इसके अनुसार केशी श्रमण का कर्तव्य था कि राजा प्रदेशी दानशाला खोलकर सबको दान देने का मिथ्यात्त्व और पाप पूर्ण जो कार्य करना चाहता था और अन्ततः शास्त्र के पाठानुसार जिस कार्य को राजा प्रदेशी ने शीघ्र कर ही डाला—दानशाला खुलवाई ही—उस कार्य से राजा प्रदेशी को रोकते, उस कार्य का कटु फल बताते, तथा राजा प्रदेशी को धर्म अधर्म की पहचान कराते ।

केशी श्रमण ने यह सब नहीं किया, इसलिए तेरह-पन्थियों की दृष्टि में केशी श्रमण, कर्तव्य से भ्रष्ट हुए । लेकिन केशी श्रमण कर्तव्य भ्रष्ट थे, ऐसा तेरह—पन्थी भी कहते या मानते नहीं है। ऐसी दशा में तेरह-पन्थियो की यह दलील कोई कीमत नहीं रखती, कि राजा प्रदेशी का दानशाला विषयक कथन सुनकर केशी श्रमण कुछ नहीं बोले थे, और इसलिए राजा प्रदेशी का दानशाला खोलना पाप था ।

केशी श्रमण के न बोलने से, और केशी श्रमण ने दानशाला विषयक राजा प्रदेशी के विचार की सराहना नहीं की थी, इससे यदि राजा प्रदेशी का दानशाला खोलना पाप है, तो आनन्द श्रावक का व्रत अभिग्रह आदि स्वीकार करना भी पाप हो जावेगा। क्योंकि आनन्द श्रावक ने अन्य यूथिक साधुओ को दान सम्मान आदि न देने तथा श्रमण निग्रन्थ को भोजन पानी आदि देने विषयक जो अभिग्रह भगवान महावीर के सामने किया था, उस अभिग्रह के करने पर भी भगवान महावीर कुछ नहीं बोले थे।

भगवान महावीर ने आनन्द श्रावक के अभिग्रह की सराहना नहीं की थी। इसलिए तेरह-पन्थी लोग जिस तरह आनन्द श्रावक के अभिग्रह का अर्थ साधु के सिवाय अन्य सभी को न देना करते है उसी तरह साधुओ को देना भी पाप ठहरेगा क्योंकि भगवान ने दोनो ही की सराहना नहीं की थी। इसलिए तेरह—

पन्थी लोग ऐसा मानते नहीं है। अतः केशी श्रमण ने राजा प्रदेशी के दानशाला विषयक विचार का समर्थन नहीं किया था, इसलिए राजा प्रदेशी का वह कार्य पाप ही था, ऐसी तेरह-पन्थियो की दलील लोगो को केवल भ्रम में डालने के लिए ही है। अपना उद्देश्य पूरा करने के वास्ते, व्यर्थ की दलील है। इसमे तथ्य बिलकुल नही है।

सारांश यह कि साधु के सिवाय अन्य लोगों को दान देना पाप नही है। यह बात तीर्थङ्करो का दान देना भी सिद्ध करता है, और ऊपर शास्त्र के जो दो प्रमाण दिये गये है, अुनसे भी सिद्ध है।

तेरह-पन्थियो की एक दलील और है। वे अपनी 'अनुकम्पा' की बारहवी ढाल मे कहते है कि यदि सोनैया, धन-धान्य आदि असंयति लोगो को देने मे, तथा मरते हुए असंयति जीवों को बचाने मे धर्म होता तो भगवान महावीर की प्रथम वाणी निष्फल क्यों जाती? देवता लोग लोगों को सोनैया, धन-धान्य, रत्न आदि देकर, तथा समुद्र मे मरती हुई मछलियों को बचाकर भगवान महावीर की वाणी सफल करते। इस सारी ढाल में न्होंने देवताओं का ही उदाहरण लिया है। उनका थोड़ासा कथन उदाहरण के तौरपर यहां दिया जाता है—

जो जीव बचाया धर्म हुए, ओ तो देवता रे आसानजी ।
अनन्त जीव बचाय ने वाणी सफल करता देव आनजी ॥
असंयति जीव बचावियां वले असंयति ने दिया दानजी ।
इम करता वीर वाणी सफली हुए ओ तो देवता रे आसानजी ।

अर्थात्—यदि जीव बचाने मे धर्म होता, तो यह कार्य तो देवताओ के लिए सरल था। देवता अनन्त जीवों को बचाकर भगवान महावीर की वाणी सफल कर देते। असंयति जीव को बचाने और असंयति जीव को दान देने से यदि भगवान महावीर की वाणी सफल हो सकती, तो ये कार्य देवताओं के लिए आसान थे। देवता, इन कामो को करके धर्म के आचरण द्वारा भगवान महावीर की वाणी सफल कर सकते थे।

परन्तु उन लोगो को यह मालूम नही है कि भगवान महावीर की प्रथम वाणी खाली क्यो गई? भगवान महावीर को जिस समय केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ, वह सन्ध्या का समय था, और जंगल था। भगवान ने केवल ज्ञान होते ही वाणी फरमाई—उस समय मनुष्य मनुष्यणी और तिर्यंच तिर्यंचणी नहीं थे। इसलिए जैसा कि भगवान ने धर्म के दो भेद करके आगार और अणगार धर्म का प्रतिपादन किया, उस त्याग प्रत्याख्यान रूप चारित्र धर्म को किसी न अंगीकार नही किया था, इस अपेक्षा से

वाणी खाली गई मानी है, न कि दान पुण्य या जीव रक्षा की अपेक्षा से। इस पर से प्राणी रक्षा या दान देना निषिद्ध नहीं हो सकता। यह उदाहरण दया दान उठाने की कुयुक्ति रूप है।

यदि जो काम देवता नहीं करते, मनुष्यो के लिए भी वह काम करना निषिद्ध है, पाप है, तो देवता लोग साधुओं को आहार पानी, वस्त्र पात्र आदि भी नहीं देते हैं। इसलिए मनुष्य के लिए भी साधु को आहार-पानी आदि देना निषिद्ध और पाप होगा। और यदि साधु को देवता लोग आहार-पानी नहीं देने तब भी मनुष्य के लिए साधु को आहार-पानी आदि देना पाप नहीं है, अपितु लाभप्रद ही है, तो किसी मरते हुए जीव को बचाना तथा दीन दुःखी आदि को दान देना भी पाप कैसे हो सकता है ? जैन सिद्धान्त दीन दुःखी जीवों को दान देकर उनकी सहायता करने के वर्णन से भरे पड़े है। अनेकों उदाहरण विद्यमान है।



जीव बचाना पाप नहीं है।



दान की ही तरह जीवो को बचाना पाप नहीं है, यह सिद्ध करने का प्रयत्न भी सूर्य को दीपक से सिद्ध करने के प्रयत्न करने के समान है। क्योकि जैन शासन का प्रादुर्भाव मरते हूए जीवों को बचाने के लिए ही है, यह बात प्रसिद्ध है। शास्त्र भी इसी बात का समर्थन करते है। 'श्री प्रश्न व्याकरण सूत्र' मे कहा है कि

सव्व जग जीव रक्खण दय याए पावयणं भगवया सुकहिय।

अर्थात—समस्त जगत के जीवो की रक्षा और दया के लिए ही भगवान ने प्रवचन कहा है।

तेरह पन्थी लोग इस शास्त्र पाठ के विषय में यह कहते हैं कि दया और रक्षा का अर्थ यही है कि किसी जीव को न मारना, लेकिन किसी मरते हुए जीव को बचा देना दया या अनुकम्पा नही है। यद्यपि तेरह-पन्थियो का यह अर्थ गल्त है, थोड़ीसी भी

समझ वाला आदमी जानता है, कि बचाने का नाम रक्षा है; व्यवहार में भी रक्षा शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है, और टीका मे भी रक्षा का अर्थ बचाना ही कहा गया है, फिर भी तेरह-पन्थी लोग यह कहकर लोगों को भ्रम में डाल देते हैं, कि किसी को न मारना, यही दया या रक्षा है। किसी मरते हुए को बचाना दया या रक्षा नहीं है। उनका यह कथन केवल लोगों को भुलावें में डालकर अपने मत का प्रचार करने के लिए ही है।

जैन शास्त्र और जैन शासन प्रधानतः मरते हुए जीवो की रक्षा के लिए ही है। इस बात को अंग्रेज विद्वान भी मानते हैं। इतिहासज्ञो का भी कथन है, कि जैन धर्म संसार में दुःख पाते हुए तथा मारे जाते हुए जीवो को त्राण देने के लिए ही है। बुद्धि से भी विचारा जा सकता है, यदि जैन धर्म किसी मरते हुए प्राणी को बचाने में पाप मानता होता तो यह अपने समकालीन प्रतिस्पर्द्धी बौद्ध धर्म के सामने टिकना ही कैसे।

इन सब बातों के सिवाय, शास्त्रों में मरते हुए जीव को बचाने के लिए आदर्श रूप मे अनेक उदाहरण भी पाये जाते है। जैसे— भगवान अरिष्ट नेमि ने मारे जाने के लिए बन्द किये हुए बाड़े (पींजरे) मे से पशुओं को छुड़ाया था, यह बात हम पहले कह आये है। भगवान पार्श्वनाथ ने भी आग में जलते हुए नाग को बचाया था और भगवान महावीर ने भी यज्ञ मे होनेवाली पशु—हिंसा का

जबरदस्त विरोध करके उन जीवो का रक्षण कराया था। इसके सिवाय भगवान महावीर ने तेजो लेश्या से जलते हुए गोशालक को बचाया था, इसका शास्त्र में स्पष्ठ उल्लेख है। इस प्रकार तीन उदाहरण तो तीर्थंकरो के ही है, जिनसे यह सिद्ध है कि मरते हुए जीव को बचाना पाप नहीं है, अपितु जैन धर्म का मुख्य सिद्धान्त है। यदि मरते हुए जीव को बचाना पाप होता तो तीर्थङ्कर भगवान स्वयं यह पाप क्यो करते ?

तेरह-पन्थी लोग शास्त्र के इन तीनों प्रमाणों के लिए भी कुछ न कुछ दलील देकर लोगो को भुलावे मे डालते ही हैं। भगवान अरिष्ट नेमि के लिए कहते है, कि उन जीवों की हिंसा भगवान अरिष्ट नेमि के निमित्त से हो रही थी, इसीसे भगवान अरिष्ट नेमि ने उन जीवो की हिंसा का पाप अपने लिए माना और उस पाप को टाला। भगवान महावीर के लिए कहते है कि गोशालक को बचा कर भगवान महावीर ने भूल की। तेरह-पन्थियों ने भगवान अरिष्ट नेमि और भगवान महावीर के जीव–रक्षा विषयक आदर्शों को मिटाने के लिए अपने ग्रन्थ 'भ्रम विध्वंसन मे कई पृष्ट के पृष्ट लिखे है, और अनुकम्पा की ढालो मे दो तीन पूरी ढालें इसी विषय को लेकर की है कि भगवान महावीर ने गोशालक को बचाकर भयंकर भूल की थी। इसी प्रकार भगवान पार्श्वनाथ के लिए भी कहते हैं कि—

नाग नागिनी हुंता बलता लकड़ा में,
त्यांने पार्श्वनाथजी काढ्या कहे वारे।
अग्नि में बलतां ने राख्या जीवता,
पाणी अग्नि आदिक जीवां ने मार।
ओ उपकार संसार रो।

('अनुकम्पा' ढाल ११ वीं)

अर्थात्—पार्श्वनाथजी ने आग मे जलते हुए नाग नागिन को बाहर निकाल कर उनको जीवित रखा, इस कार्य में भगवान पार्श्वनाथजी ने आग और पानी के जीवो की हिंसा की, इसलिए यह उपकार संसार का है, यानी पाप है।*

इस तरह तीनो ही तीर्थङ्कर द्वारा स्थापित जीव-रक्षा विषयक आदर्श को तेरह-पन्थी पाप में मानते है। इस सम्बन्ध मे तेरह-पन्थियों की दलीलें व्यर्थसी है। इस सम्बन्धी उनकी दलीलो का खण्डन करने मे पड़ना, अपना समय नष्ट करना है। उनकी दलीले, बुद्धि हीन और अपढ़ लोगों को चाहे भ्रम में डाल सके, परन्तु बुद्धिमान लोग भ्रम में नहीं पड़ सकते। बुद्धिमानो के लिए

* यह बताया जा चुका है, कि तेरह पन्थी लोग 'संसार का उपकार' संसार मे जन्म मरण कराने वाला 'पाप' मानते है।

उनकी दलीलों का खण्डन करने के लिए एक ही दलील काफी है, जो हम नीचे लिखते है ।

तीर्थङ्करों को मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीन ज्ञान जन्म से ही होते हैं । इसलिए इस काल के तेरह-पन्थी साधुओं की अपेक्षा उनका धार्मिक ज्ञान कम तो हो ही नहीं सकता । क्योंकि पूर्ण श्रुत ज्ञान चौदह पूर्व-धारियों को ही होता है, उन्हे ही सर्वाक्षर सन्निपाती कहते है । शेष सब श्रुत ज्ञान से अपूर्ण है । तेरह-पन्थी साधुओं मे दो ज्ञान भी पूरे नहीं हैं । ऐसी दशा मे भगवान तीर्थङ्करों द्वारा किये गये जीव रक्षा के कामों को पाप या भूल कहने की योग्यता तेरह-पन्थियों मे कहां से आगई ?

तेरह-पन्थियो की इस अनधिकार चेष्टा से तो जाना जाता है, कि तेरह-पन्थियो मे तीर्थङ्करो से भी ज्यादा ज्ञान होना चाहिए । परन्तु है श्रुतज्ञान को यथा तथ्य समझने की मति का दिवाला ! क्योंकि भगवान अरिष्टनेमि की भूल उनके पीछे वाले कोई तीर्थकर न जान सके, भगवान पार्श्वनाथ का पाप भगवान पार्श्वनाथ स्वयं अथवा भगवान महावीर न जान सके, और भगवान महावीर की गलती भगवान महावीर को अन्त तक दिखाई न दी, लेकिन तेरह-पन्थी साधु तीनों तीर्थंकरों की भूल और उनके पाप को समझ

गये। इसलिए तेरह-पन्थी तीर्थङ्करो से भी ज्यादा ज्ञानी ठहरे ! तीर्थङ्करों के भी गुरु ठहरे !

एक बात और है। भगवान अरिष्टनेमि, भगवान पार्श्वनाथ या भगवान महावीर ने जो भूल की थी, उन्हे अपनी उस भूल को स्वीकार करके जनता को सावधान कर देना चाहिये था, कि मैने यह भूल की है, लेकिन तुम कोई इस तरह की भूल मत करना। कम से कम उन श्रावको को तो इस बात से परिचित कर ही देना चाहिए था, जिन श्रावको ने भगवान तीर्थङ्कर के पास व्रत स्वीकार किये थे।

तेरह-पन्थी लोगों के इस कथनानुसार कि—"धर्म अधर्म की पहचान साधु ही कराते हैं, +" भगवान महावीर का यह कर्तव्य था, कि श्रावको को अधर्म की पहचान कराने के लिए, श्रावको को अतिचार बताने के साथ ही साथ यह भी कह देते कि—"किसी मरते हुए जीव को बचाना पाप है, अतः इस पाप से भी बचना" इसलिए तेरह-पन्थियो की मान्यतानुसार क्या भगवान महावीर को कर्तव्य से पतित मानना उचित होगा ? यह बात तो किसी भी जैन को स्वीकार नही हो सकती। इसलिए इसी निश्चय पर पहुँचा

+ देखो 'भ्रम विध्वंसन' पृष्ठ ५०-५१ जिसका उद्धरण हम पिछले प्रकरण मे दे चुके है।

जाता है, कि तेरह-पन्थियो की इस विषयक दलीले झूठी है, लोगो को भ्रम मे डालने के लिए है, और इस तरह लोगो के हृदय मे से करुणा निकालने के लिए है।

जीव को बचाना पाप नही है, किन्तु अनुकम्पा है; रक्षा है, यह बात 'ज्ञाता सूत्र मे' मेघकुमार के अधिकार से भी सिद्ध है। 'ज्ञाता सूत्र मे कहा गया है कि भगवान महावीर ने मेघकुमार से स्पष्ट ही कहा था, कि—हे मेघकुमार ! तूने हाथी के भव मे प्राणभूत जीव सत्व की अनुकम्पा की थी, उस शशले की रक्षा के लिए तो बीस पहर तक पैर ऊँचा रखकर अपने शरीर का ही बलिदान कर दिया था, इसीसे समकित रत्न प्राप्त हुआ, ससार परिमित हुवा, मनुष्य जन्म, राजसी वैभव आदि प्राप्त हुवे और अन्त मे तू संयम ले सका। यदि जीव—रक्षा मे पाप होता, तो भगवान महावीर जीव-रक्षा का यह परिणाम क्यो बताते ?

मेघकुमार के उदाहरण के लिए भी तेरह-पन्थी लोग एक व्यर्थ की दलील करते है। वे कहते है कि—मेघकुमार ने हाथी के भव में शसले को नहीं मारा था, इसीसे उसको मनुष्य जन्म आदि मिला, परन्तु हाथी के मण्डल मे जो बहुत से जीवो ने आकर आश्रय लिया था, उससे तो हाथी को पाप ही लगा। समझ मे नही आता कि तेरह-पन्थी लोग यह दलील किस आधार पर खड़ी करते है। एक कवि ने कहा है—

अति रमणीये काव्ये पिशुनो दूषणमन्वेषयति ।
अति रमणीये वपुषि व्रणमिव मक्षिका निकरः ॥

अर्थात्—अच्छे रमणीय काव्य मे भी धूर्त लोग उसी प्रकार दोष को खोजा करते हैं, जिस प्रकार बहुत रमणीय शरीर में भी मक्खी केवल घाव ही खोजा करती है।

इसके अनुसार सर्वज्ञों के प्रतिपादित करुणा से भरे हुए शास्त्रों मे भी तेरह-पन्थी लोग केवल 'पाप ही पाप' खोजा करते हैं। ऐसा करने का कारण या तो उनका स्वभाव ही ऐसा है, अथवा उनकी अपने मत के प्रचार की स्वार्थ बुद्धि है। यदि ऐसा न होता, तो तेरह-पन्थी लोग दया और दान मे पाप सिद्ध करने के लिए महा-पुरुषो द्वारा छोड़े गये आदर्शों को विकृत बनाने का प्रयत्न ही क्यों करते ?

यद्यपि तेरह-पन्थियो की मेघकुमार के चरित्र के विषय मे दी जाने वाली दलील बिलकुल ही व्यर्थ है, फिर भी बेसमझ लोगो को भ्रम से बचाने के लिए हम उनकी दलील का संक्षिप्त उत्तर देते है।

शास्त्र मे ऐसा कहीं नही आया है, कि हाथी ने एक शसले को नहीं मारा था, इसीसे उसको मनुष्य-जन्म आदि प्राप्त हुआ था इसके लिये भगवान महावीर ने स्पष्ट ही कहा है कि—

प्राणाणुकम्पयाए भूयाणुकम्पयाए जीवाणुकम्पयाए सत्वाणुकम्पयाए।

अर्थात्—प्राणी भूत जीव और सत्त्व की अनुकम्पा से तुझे सम्यक्त्व और मनुष्य जन्म आदि मिला।

भगवान महावीर ने यह नहीं कहा, कि तेरे मण्डल में दूसरे जो जीव आकर रहे थे, उनके बचने से तुझे पाप हुआ। इसके सिवाय शास्त्र के पाठानुसार हाथी ने एक योजन का मण्डल बनाया था। उस एक योजन (चार कोस) के मण्डल मे दावानल से बचने के लिए इतने जीव आकर घुस गये थे कि कहीं थोड़ी भी जगह शेप नही रही थी। इसीसे शशक इधर उधर मारा मारा फिरता था, उसको बैठने को जगह न मिली थी, और इतने ही मे हाथी ने अपना पैर खाज खनेने को उठाया, उस खाली जगह मे शशक बैठ गया।

बुद्धि से विचारने की बात है कि हाथी के उस मण्डल में कितने जीव बचे होगे ? हाथी ने अपने मण्डल मे उन असंख्य जीवो को आश्रय दिया, इस कारण तेरह-पन्थियो की मान्यता-नुसार तो हाथी को कितना पाप लगना चाहिये। थोड़ी देर के लिये तेरह-पन्थियो का यह कथन मान भी ले कि एक शसले को न मारने से ही, हाथी को मेघकुमार का भव प्राप्त हुआ था, तो इसके साथ ही यह भी मानना होगा, कि हाथी के मण्डल मे

जो असंख्य जीव बचे थे, उनके बच जाने से हाथी को जो पाप हुआ था उसका दुष्परिणाम स्वरूप क्या फल मिला ? हाथी को पुण्य या धर्म तो हुआ एक शसले के न मारने का और पाप हुआ असंख्य जीवों के बचने का। इस प्रकार धर्म या पुण्य की अपेक्षा पाप ही अधिक हुआ। ऐसी दशा मे हाथी को मेघकुमार का जन्म मिलने का क्या कारण था ?

इसके सिवाय यदि और जीवों का बचना पाप होता, तो भगवान महावीर मेघकुमार से स्पष्ट कह देते कि तूने शसले को नहीं मारा यह तो तुझे धर्म या पुण्य हुआ, परन्तु अन्य जीवो को तूने अपने मण्डल मे आश्रय दिया, इसका तुझे पाप हुआ, जिसका परिणाम तुझे इस प्रकार भोगना होगा। भगवान ने ऐसा न कह कर यह कहा, कि प्राणी भूत जीव सत्व की अनुकम्पा से तूने सम्यक्त्व प्राप्त किया, संसार परिमित किया यानी संसार का जन्म मरण घटाया। ऐसी दशा मे तेरह-पन्थियों द्वारा इस विषयक की जाने वाली दलील बिलकुल व्यर्थ ही ठहरती है।

किसी मरते हुए जीव को बचाने में पाप सिद्ध करने के लिए तेरह-पन्थी लोग एक और दलील देते है। वे कहते है कि किसी मरते हुवे को बचाने, या किसी प्यासे को पानी पिलाने या किसी को कष्ट मुक्त करने, में अग्नि पानी आदि के असंख्य स्थावर जीवों

की हिंसा होती है, इसलिए किसी मरते हुए को बचाना, पानी में डूबते हुए या आग मे जलते हुए को निकालना या किसी प्यासे को पानी पिलाना पाप है। जैसाकि वे भगवान पार्श्वनाथ के विषय मे कहते है, कि भगवान पार्श्वनाथ ने आग मे जलते हुए नाग नागिनी को बचाने मे आग पानी के जीवों की हिंसा की थी, इस लिए उनका यह कार्य पाप था।

इस प्रकार तेरह-पन्थी लोग, किसी की रक्षा में होने वाली स्थावर जीवो की हिंसा को आगे लेकर जीव-रक्षा को पाप बताते है। लेकिन यदि जीव बचाने मे होने वाली इस तरह कि हिंसा के कारण ही जीव को बचाना पाप हो जावेगा, तो फिर और भी बहुत से काम पाप मे ठहरेंगे। इस मान्यता के अनुसार—जैसाकि हम पहिले बता चुके है, साधु का पलेवन करना भी पाप होगा, साधु का रजोहरण रखना भी पाप होगा, साधु का दर्शन करना भी पाप होगा और यहां तक की तीर्थङ्कर का दर्शन करना भी पाप ठहरेगा। क्योंकि इन सभी कामो मे प्रारम्भ मे एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा होती ही है, बल्कि कभी कभी त्रस जीवो की भी हिंसा हो जाती है।

चलने फिरने मे एकेन्द्रिय तथा त्रस जीव की हिंसा होती है, इस बात को मानने से कोई इन्कार नही कर सकता। यदि इस तरह की हिंसा के कारण ही मरते हुए जीव को बचाना,

या दुःखी जीव को दुःख मुक्त करना पाप है, तो फिर साधु और तीर्थङ्कर का दर्शन करना भी पाप ठहरेगा। और यदि प्रारम्भिक हिंसा के होने पर भी साधु के लिए प्रतिलेखन करना, साधु के लिए रजोहरण का उपयोग करना, और साधु तथा तीर्थङ्कर का दर्शन करना पाप नहीं है, तो फिर प्रारम्भिक हिंसा के कारण किसी मरते हुए जीव को बचाना अथवा किसी कष्ट पाते हुए जीव को कष्ट मुक्त करना पाप क्यों हो जावेगा?

इन सब बातो पर विचार करने से स्पष्ट है कि किसी मरते हुए जीव को बचाना या किसी कष्ट पाते हुए जीव को कष्ट मुक्त करना पाप नहीं है। इन कामो को पाप बताने के लिए तेरह-पन्थी लोगो की समस्त दलीले केवल उन लोगों को भ्रम में डालकर अपने मत में लाने के लिए है, जो लोग शास्त्र को पूरी तरह जानते नहीं है, अथवा तेरह-पन्थियो की दलीलों का उत्तर देने की जिनमें क्षमता नहीं है।

तरह-पन्थी साधु कहते है, कि हम मारने वाले को पाप से बचाने के लिए उपदेश देते है, मरते हुए जीव को बचाने के लिए उपदेश नहीं देते। साधु का यही कर्तव्य है, कि वह मारने वाले को पाप से बचाने के लिए उपदेश दे, परन्तु मरने वाले की रक्षा के लिए उपदेश न दे? क्योकि, मरने वाले की रक्षा करना पाप है।

यह तेरह-पन्थ का उक्त कथन बिल्कुल झूठ और शास्त्र विरुद्ध है, यह सिद्ध करने के लिए हम एक ही ऐसा प्रमाण देते हैं, जिससे यह स्पष्ट हो जावेगा, कि साधु का कर्तव्य मारने वाले तथा मरने वाले दोनो ही के कल्याण के लिए उपदेश देना है। इसी प्रकार श्रावक का भी कर्तव्य है कि वह मरते और कष्ट पाते हुए जीव को बचाने और कष्ट मुक्त करने का प्रयत्न करे।

'राय प्रसेणी' सूत्र मे राजा प्रदेशी का वर्णन आया है। सूत्रानुसार, राजा प्रदेशी नास्तिक था। वह 'आत्मा नहीं है' ऐसा मानता था। इस कारण वह अनेक द्विपद (मनुष्य पक्षी आदि), चौपद (पशु आदि), मृग पशु पक्षी और सरीसृप (सांप आदि बिना पाव के जीव को मार डालता था। ब्राह्मण भिक्षुक आदि की भीख भी छीन लेता था, तथा अपने समस्त राज्य को उसने बहुत दुःखी कर रखा था।

प्रदेशी राजा के चित्त नाम के प्रधान, ने जो बारह व्रतधारी श्रावक था। राजा प्रदेशी द्वारा होने वाले अत्याचारों से जनता को बचाने के लिए केशी स्वामी से कहा, कि हे देवानु प्रिय! आप यदि राजा प्रदेशी को धर्म सुनावे, तो प्रदेशी राजा को, तथा (उसके हाथ से मारे जाने वाले) बहुत से द्विपद, चौपद, मृग, पशु, पक्षी और सरीसृप को बहुत गुणयुक्त फल (लाभ) होगा। हे देवानुप्रिय! आप यदि राजा प्रदेशी को धर्म

सुनावें, तो प्रदेशी राजा के साथ ही बहुत से श्रमण, माहण और भिक्षुकों को गुणयुक्त फल (लाभ) होगा; और इसी प्रकार हे देवानु प्रिय ! राजा प्रदेशी के साथ ही समस्त जनपद (सम्पूर्ण राज्य) को बहुत लाभ होगा।

केशी श्रमण से यह प्रार्थना उस चित्त प्रधान ने की थी, जो बारह व्रतधारी श्रावक था, और धर्म अधर्म को अच्छी तरह जानता था। चित्त प्रधान श्रावक था, यह बात 'राय प्रसेणी' सूत्र मे स्पष्ट कही है, और 'राय प्रसेणी' सूत्र से यह भी स्पष्ट है, कि चित्त प्रधान की इस प्रार्थना को स्वीकार करके ही केशी स्वामी ने श्वेतम्बीका पधार कर राजा प्रदेशी को धर्म का उपदेश दिया था, तथा उसको श्रावक बनाया था। यदि मरते हुए जीव को बचाना अथवा कष्ट पाते हुए को कष्ट मुक्त करना कराना पाप होता, तो चित्त प्रधान, जो श्रावक था, इस तरह का पाप-कार्य करने-कराने के लिए केशी स्वामी से प्रार्थना ही क्यों करता, और केशी स्वामी चित्त प्रधान की यह प्रार्थना स्वीकार ही क्यो करते ?

शास्त्र के इस वर्णन से भी यह स्पष्ट है, कि मरते हुए जीव को बचाने तथा कष्ट पाते हुए जीव को कष्ट मुक्त करने के लिए उपदेश देना साधु का कर्तव्य है और इसी प्रकार श्रावक का भी यह कर्तव्य है, कि वह मरते हुए जीव को बचाने तथा कष्ट पाते हुए जीव को कष्ट मुक्त करने का प्रयत्न करे। यदि ऐसा न

होता, तो चित्त प्रधान केशी स्वामी से पशु–पक्षी, ब्राह्मण-भिखारी और देश आदि का लाभ होने की बात न तो केशी श्रमण से ही, कहता और न केशी श्रमण ही उसके कथन को स्वीकार करते।

शास्त्र में अभय-दान को सब से श्रेष्ठ दान कहा है। लेकिन तेरह–पन्थी लोग कहते है, कि किसी जीव को न मारना, यही अभय-दान है, किसी मरते हुए जीव को बचाना अभय-दान नही है। उनका यह कथन शास्त्र के भी विरुद्ध है और युक्ति के भी विरुद्ध है। देने का नाम दान है। न देने का नाम तो दान है ही नहीं। यदि बिना दिये ही दान हो सकता हो, तब तो साधु को आहार-पानी दिये बिना ही, केवल साधु को कष्ट न देने मात्र से ही सुपात्र दान भी हो जावेगा। परन्तु तेरह-पन्थी लोग सुपात्र–दान के लिए तो ऐसा मानते नहीं है, कि साधु को कष्ट न देने मात्र से ही सुपात्र–दान हो जाता है, और अभय-दान के लिए कहते है, कि किसी को भय न देने से ही अभय दान हो जाता है।

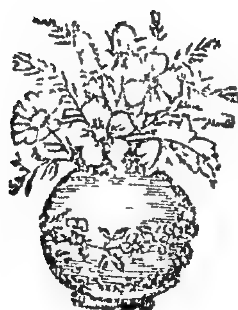
यदि तेरह-पन्थियों का यह कथन ठीक, हो, तब तो स्थावर जीव सब से अधिक अभय दान देने वाले सिद्ध होगे। क्योकि पृथ्वी-कायिक, जल-कायिक और वनस्पति-कायिक जीव किसे भय देते है ? इसलिए किसी जीव को भय न देने का नाम ही अभय-दान

नहीं है, किन्तु भय पाते हुए का भय मिटाने का नाम ही अभय दान है।

'सूयगडांग' सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के छठे अध्ययन में 'दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं' पाठ आया है। इसकी व्याख्या करते हुए टोकाकार ने स्पष्ट लिखा है, कि 'जो माग रहा है, उसको अपने और मांगने वाले के अनुग्रह के लिए उसके द्वारा मांगी गई चीज देने का नाम दान है। ऐसा दान अनेक प्रकार का है, जिनमे अभय-दान सब से श्रेष्ठ है। क्योकि अभय-दान, उन मरते हुवे प्राणियो के प्राण का दान करता है, कि जो प्राणी मरना नही चाहते है, किन्तु जीवित रहने की इच्छा रखते है। मरते हुए प्राणी को एक ओर करोड़ो का धन दिया जाने लगे और दूसरी ओर जीवन दिया जाने लगे, तो वह धन न लेकर जीवन ही लेता है। प्रत्येक जीव को जीवन सब से अधिक प्रिय है। इसी से अभय-दान सब मे श्रेष्ठ है।'

व्यवहार मे भी अभयदान का अर्थ भयभीत को भय रहित बनाना ही किया जाता है। कोप आदि मे भी अभयदान का अर्थ यही है। ऐसी दशा मे तेरह-पन्थियो का यह कथन सर्वथा असंगत है, कि भयभीत को भययुक्त करना अभयदान नहीं है, किन्तु किसी को भय न देने का नाम अभय-दान है। थोड़ी बुद्धि वाला

व्यक्ति भी समझ सकता है कि न देने का नाम दान कैसे हो सकता है। देने का नाम ही दान है। 'अभय' देने को ही अभय-दान कहा जाता है, और अभय-दान का पात्र वही है, जो भय पा रहा है। सियाल यदि सिंह को नहीं मार सकता है, तो क्या इसका नाम अभयदान हो जावेगा? यह तो एक व्यर्थ की बात है।



तेरह पन्थियों की कुछ भ्रमोत्पादक युक्तियाँ और उनका समाधान



अब हम तेरह-पन्थियो की कुछ उन युक्तियों को बताते है, जिनको तेरह-पन्थी साधु लोगो के हृदय में से दया दान के प्रति श्रद्धा निकालने के लिए काम में लाया करते है। साथ ही उन कुयुक्तियों का कुछ जवाब भी देते हैं, जिसमें जनता उनकी कुयुक्तियों के फन्दे से बच सके।

(१)

धन देकर जीव वचाना, व्यभिचार कराकर जीव बचाने के समान ही पाप है। यह बताने के लिए तेरह-पन्थी एक कैसी भीपण कुयुक्ति देते हैं, वह सुनिये। तेरह-पन्थी कहते हैं—

दोय वेश्या कसाई वाड़े गई, करता देखी हो जीवांरा संहार। दोनों जणियां मतो करी, मरता राख्या हो जीव दोय हजार॥ एक गहनो देई आपनो, तिन छुड़ाया

हो जीव एक हजार । दूजी छुड़ाया इण विधे, एक दोय सूं हो चोथो आस्रव सेवाड़ ॥ एकण सेवायो आस्रव पांचमो, तो उण दूजी हो चौथो आस्रव सेवाय । फेर पड़्यो ईतो इण पाप मे, धर्म होसी हो ते तो सरीखो थाय।

('अनुकम्पा' ढाल ७ वीं)

अर्थात्—दो वेश्याएँ कसाईखाने मे गई। वहां बहुत जीवों का संहार होता देखकर दोनो ने सलाह की और दो हजार जीवो को मरने से बचाया। एक वेश्या ने तो अपने आभूषण देकर एक हजार जीव बचाये, और दूसरी वेश्या ने कसाई वाड़े के एक दो आदमी से चौथा आस्रव (अब्रह्मचर्य या व्याभिचार) सेवन कराकर एक हजार जीव बचाये। इनमे एक वेश्या ने गहने देकर पाचवे आस्रव (परिग्रह) का सेवन कराया और दूसरी ने चौथे आस्रव (व्याभिचार) का सेवन कराया। उन दोनों के पाप मे क्या अन्तर हुआ ? यदि धर्म होगा, तो दोनों ही को बरावर होगा !

तेरह-पन्थियो के कहने का अभिप्राय यह है, कि धन देना, यह पाचवे आश्रव का सेवन कराना है, और व्याभिचार करना, चौथे आश्रव का सेवन कराना है। इसलिए यदि धन देकर जीव बचाना धर्म है, तो व्याभिचार कराकर जीव बचाना भी धर्म

है ! क्योंकि धन देना भी आश्रव का सेवन कराना है, और व्यभिचार करना भी आश्रव का सेवन कराना है। दोनों ही आश्रव है, इसलिए चाहे धन देकर जीव छुड़ावे या व्यभिचार करके जीव छुड़ावे, दोनों एक ही समान है।

कैसी असभ्यता पूर्ण और मजेदार युक्ति है। इस कुयुक्ति के आगे तो लज्जा को भी लज्जित हो जाना पड़ता है। यह युक्ति किसी दूसरे की भी नहीं है, किन्तु तेरह-पन्थ सम्प्रदाय के मूल संस्थापक श्रीमान् भीषणजी स्वामी की स्वयं की कही हुई है। इस निर्लज्जता पूर्ण युक्ति का ण्डन करने के लिए हम भी निर्लज्जता पूर्ण युक्ति का आश्रय लेने के लिए विवश है। क्योंकि ऐसा ही उदाहरण उपरोक्त युक्ति का बराबर प्रत्युत्तर समान है।

मान लीजिये कि तेरह-पंथ सम्प्रदाय के पूज्य जी का चातुर्मास किसी शहर मे है। उनके दर्शनार्थ जाकर सेवा भक्ति करने का लाभ लेने की दो श्राविकाओं की इच्छा हुई। आखिर उन्होंने सेवा में जाने का निश्चय किया। परन्तु खर्च दोनों के पास नहीं था। इसलिए उनमें से एक श्राविका ने तो अपना जेवर बेचकर उन रुपयों से टिकिट लिया। लेकिन दूसरी ने सोचा कि रुपया देना पांचवां आश्रव सेवन कराना है और व्यभिचार सेवन करना चौथा आश्रव सेवन कराना है। पाप तो दोनों ही है और बराबर है, बल्कि व्यभिचार से भी धन का नम्बर आगे है यानि

व्यभिचार का चौथा और धन का पांचवां । ऐसी हालत में व्यर्थ का जेवर क्यों खोना ? ऐसा विचार करके उसने इस प्रकार के व्यवहार से स्टेशन वालों को प्रसन्न कर गाड़ी में बैठ गई, और जहां २ मौका आया इसी व्यवहार से पार होती गई । इस तरह दोनों पूज्यजी के सेवा में पहुँची । पहुँचने पर उस श्राविका ने पूज्यजी से अर्ज की कि यह मेरी साथ वाली बाई मूर्ख है । इसने पांचवां आश्रव भी सेवन कराया और जेवर भी गुमाया । परन्तु मैंने चतुर्थ आश्रव का ही सेवन किया और धन बचा लाई सो यहां पर खाऊँगी, खर्चूंगी और प्रसंग पाकर दान लाभ भी उठाउंगी ।

क्या तेरह-पन्थी साधु, रुपया खर्चकर आने वाली श्राविका की अपेक्षा रुपया बचाकर आने वाली श्राविका को श्रेष्ठ मानेगे ? श्रेष्ठ न सही, बराबर तो मानेगे ? उनकी दृष्टि में चौथा आश्रव और पाचवां आश्रव समान ही है, फिर दोनों श्राविकाओ को समान मानने में क्या हानि है ? कदाचित् कहे कि जो व्यभिचारिणी है, वह श्राविका ही नहीं है, तो जिसने रुपया दिया वह भी श्राविका नहीं है । क्योंकि आप वेश्याओं के उदाहरण में स्पष्ट ही कहते हैं कि "एक वेश्या ने जेवर देकर पांचवें आश्रव का सेवन कराया, और दूसरी ने व्यभिचार कराके चौथे आश्रव का सेवन कराया, इसलिए दोनो ही का पाप या धर्म बराबर होगा" । तब

उदाहरण मे कही हुई श्राविकाओ के लिए इस सिद्धान्त का उपयोग क्यो न होगा ? और यदि दोनो श्राविकाएँ बराबर नही है, तो धन देकर जीव छुड़ाना और व्यभिचार करके जीव छुडाना, समान कैसे हो जावेगा ? जीव बचाने के लिए न सही, अन्य कामों के लिए धन तो देना ही पडता है। क्या धन देना और व्यभिचार करना समान है ?

(२)

जीव रक्षा में पाप बताने के लिए तेरह-पन्थी एक और युक्ति देते है। इस युक्ति को समझाने के लिए वे चित्र आदि से भी काम लेते है। हम पहिले उनकी सारी युक्ति बता देते है, उसका जवाब फिर देगे।

तेरह-पन्थी कहते है कि—'एक मकान के बाहर साधु ठहरे हुए थे। रात के समय मकान में एक चोर चोरी करने के लिए आया, और घर में से धन चुराकर बाहर निकला। साधु ने चोर को धन चुरा ले जाते देखकर सोचा कि मकान में चोरी हो जाने से हमारी बदनामी होगी। ऐसा सोच कर साधु ने चोर को चोरी त्यागने का उपदेश दिया ! परिणामतः चोर ने वह धन वहीं डाल दिया, और चोरी करने का त्याग लेकर वहीं बैठ गया। सबेरे मकान और धन का मालिक आया। उसने अपने घर का ताला टूटा हुआ देख कर महात्मा से पूछा। महात्मा ने कहा कि यह

चोर हैं, और यह धन है। यह चोर धन चुराकर जा रहा था, लेकिन हमने इसको चोरी के त्याग का उपदेश दिया, इसलिए इसने धन त्यागकर चोरी करने का सदा के लिए त्याग कर लिया है। यह सुनकर उस मकान और धन के मालिक ने महात्मा से कहा कि आपने मेरा धन बचाकर बड़ी कृपा की। यदि यह धन चला जाता, तो मै लड़के का विवाह कैसे करता, मकान कैसे बनवाता और अन्य काम कैसे करता।'

'अब सोचने की बात यह है, कि साधु ने चोर को चोरी के पाप से बचाने के लिए उपदेश दिया, या धन बचाने के लिए। यदि धन बचाने के लिए साधु ने उपदेश दिया हो तो उस धन द्वारा होने वाले समस्त कामों में साधु का अनुमोदन होगा। उस धन के द्वारा होने वाले कामो का पाप साधु को भी लगेगा। इसलिए यही मानना होगा कि साधु ने धन रक्षा के लिए उपदेश नहीं दिया, किन्तु चोर को चोरी के पाप से बचाने के लिये उपदेश दिया।'

'यही बात मारने वाले और मारे जाने वाले के लिये भी समझो। एक आदमी एक बकरे को मार रहा है। उस मारने वाले को पाप से बचाने के लिए साधु उपदेश देते है, परन्तु बकरे को बचाने के लिए नहीं देते। यदि बकरे को बचाने के लिए साधु उपदेश देते है, तो फिर ऐसा भी मानना होगा कि धन

बचाने के लिए भी साधु उपदेश देते हैं। और यदि बकरे के बचने से धर्म माना जावेगा, तो धन बचने से भी धर्म मानना होगा।' इसके सिवाय वे एक और उदाहरण देते है।

'एक व्यभिचारी पुरुष एक स्त्री के पास दुराचार करने के लिए जा रहा था। साधु ने उसको दुराचार का दुष्परिणाम बताया जिससे वह पुरुष समझ गया, और उसने परदार-गमन का त्याग कर लिया। त्याग लेने के पश्चात् वह उस व्यभिचारिणी स्त्री के पास गया, और उससे बोला, कि मैंने तो महात्मा के पास से पर-स्त्री-सेवन का त्याग कर लिया है, इसलिए मैं तुम्हारे साथ अब सम्भोग नहीं कर सकता। यह सुनकर उस व्यभिचारिणी स्त्री ने कहा, कि तुमने मुझे वचन दिया था, इसलिए या तो मेरे साथ सम्भोग करो, नहीं तो मै कुएँ में गिर कर मर जाऊँगी। व्यभिचारिणी स्त्री के बहुत कहने पर भी जब वह पुरुष नहीं माना, तब वह स्त्री कुएँ मे गिर कर मर गई।'

'अब यदि मारने वाले को उपदेश देने से बकरा बच गया और बकरे के बचने का धर्म साधु को हुआ, तो व्यभिचारी पुरुष को उपदेश देने से व्यभिचारिणी स्त्री कुएँ में गिर कर मर गई, अुसका पाप भी अुपदेश देने वाले को लगेगा। परन्तु व्यभिचार का त्याग कराने से जो व्यभिचारिणी स्त्री मर गई, अुसका पाप साधु को नहीं लगता, अुसी प्रकार बकरा मारने वाले को हिंसा

का त्याग कराने से जो बकरा बच गया उसका धर्म या पाप भी त्याग कराने वाले को नहीं लगता । जिस तरह धन का बचाना पाप है, उसी प्रकार बकरे का बचाना भी पाप है, परन्तु जिस तरह व्यभिचार का त्याग कराने से जो स्त्री मर गई, उस स्त्री के मरने का पाप उपदेश देने वाले को नहीं लगता, उसी प्रकार धन और बकरे के बचने का पाप भी उपदेश देने वाले को नहीं लगता ।'

यह है मरते हुए जीव को बचाने मे पाप सिद्ध करने के लिए तेरह–पन्थी साधुओ की कुयुक्ति ! इस युक्ति से लोगों को भ्रम मे डालने के लिए कैसी झूठी बातो का आश्रय लिया गया है, पहले हम यह बता देना उचित समझते है । धन की रक्षा के लिए साधु पदेश देते है, या धन की रक्षा के लिए शास्त्र कहता है, यह बात कोई भी नहीं मानता । प्रश्न प्राण रक्षा की है, न कि धन रक्षा का । शास्त्र मे 'पाणानुकम्पए, भूयानुकम्पए, जीवानुकम्पए, सत्तानुकम्पए' पाठ तो आया है, परन्तु 'धनानुकम्पए' कहीं नहीं आया है । ऐसी दशा में जीव रक्षा के सम्बन्ध मे धन रक्षा का उदाहरण देना, किसी भी तरह उपयुक्त नहीं है । धन जड़ है, और जीव चैतन्य है । जीव को सुख दुःख का अनुभव होता है, लेकिन धन को सुख दुःख का अनुभव नहीं होता । धन चाहे जमीन के ऊपर रहे, जमीन के भीतर रहे, चोर के यहां रहे,

साहूकार के यहां रहे, उसको न हर्ष होता है, न शोक होता है क्योंकि वह जड़ है। परन्तु जीव के लिए यह बात नहीं है। जीव, अनुकूल परिस्थिति से प्रसन्न होता है, और प्रतिकूल परिस्थिति से दुःखी होता है। बकरे को यदी काटा या जलाया जाने लगे, तो वह चिल्लाता है, परन्तु धन को चाहे काटा जावे या जलाया जावे, वह चूँ तक नहीं करता। ऐसी दशा में मारे जाते हुए बकरे की तुलना, चोरी जाते हुए धन से करना, यह तो लोगों को भ्रम में डालना ही है।

दूसरी बात यह कि कोई व्यभिचारिणी स्त्री अपने जार पति के लिए मरी हो, इस बात का एक भी उदाहरण नहीं मिल सकता। जार पति से रुष्ट होकर, उसका व्यभिचारिणी स्त्री ने सर्वनाश करा दिया या कर देती है। इसके तो सैंकड़ो उदाहरण हैं, परन्तु जार पति के छूट जाने से कोई व्यभिचारिणी स्त्री मरी हो, इसका दाहरण संसार भर में ढूँढने पर भी नहीं मिल सकता। जो स्त्री अपने विवाहित पति को भी छोड़ सकती है, वह अपने जार पति के लिए प्राण दे दे, यह कभी सम्भव ही नहीं है। इस तरह का दाहरण देना भी लोगों को भुलावे में डालने के लिए ही है।

हम तेरह-पन्थियों की युक्ति का खण्डन उन्हीं की युक्ति को दूसरे रूप में रखकर करते हैं।

मानलो कि एक मकान के बाहर साधु ठहरे हुए हैं। चोर उस मकान में से धन चुराकर निकला। महात्मा ने धन चुराकर जाते हुए चोर को देख कर सोचा कि धन चोरी जाने से हम यहां ठहरे हुए हैं, इसलिए हमारी भी बदनामी होगी और जैन धर्म को भी लांछन लगेगा। ऐसा सोचकर महात्मा ने चोर को चोरी-त्याग का उपदेश दिया। परिणामतः धन वहीं छोड़कर, चोर ने महात्मा से चोरी का प्रत्याख्यान लिया और वहीं बैठ गया। सबेरे धन का स्वामी आया। उसने ताला टूटा देख महात्मा से पूछा। महात्मा ने कहा कि यह धन है, और यह चोर है। हमने इसको उपदेश दिया, इससे इसने यह तुम्हारा धन भी छोड़ दिया और सदा के लिए चोरी का त्याग कर दिया। यह सुनकर धन के स्वामी ने कहा कि आपने इस चोर को उपदेश देकर यह मेरा धन नहीं बचाया है किन्तु मेरे प्राण बचाये हैं। यदि मेरा यह धन चला जाता, तो मुझे इतना दुःख होता कि मैं मर ही जाता। मैं आपका बहुत उपकार मानता हूँ।

इस तरह चोर को चोरी त्यागने का उपदेश देने से चोर भी पाप से बचा और धन का स्वामी भी आर्त्त ध्यान करके मरने से बचा। धन को तो सुख दुःख होता नहीं है, जो सुख दुःख होता है, वह उसके स्वामी को। इसलिए चोर भी पाप से बच गया, तथा धन का स्वामी भी दुःख, मृत्यु एवं आर्त्त ध्यान के पाप से

बच गया। ऐसी दशा में चोर को चोरी त्यागने का जो उपदेश दिया गया, उस उपदेश से चोर का भी हित हुआ, और धन के स्वामी का भी हित हुआ। दोनों ही व्यक्ति पाप से बचे। यह क्या बुरा हुआ?

यही बात बकरे को मारने वाले और बकरे के सम्बन्ध मे भी समझें। मारने वाले को न मारने के लिए जो उपदेश दिया गया, उस उपदेश से मारने वाला भी पाप से बचा और बकरे की भी जीवन-रक्षा हुई, वह आर्त्तध्यान के पाप से बचा। इसमे क्या बुराई हुई?

तेरह-पन्थी लोग व्यभिचारी पुरुष और व्यभिचारिणी स्त्री का उदाहरण देते है। हम इस उदाहरण को भी अनुकूल रूप में रखते है। मानलो कि एक व्यभिचारी पुरुष अपनी कुल्टा प्रेयसी के साथ व्यभिचार करने के लिए जा रहा था। मार्ग मे महात्मा मिले, जिनके उपदेश से उस पुरुष ने पर-स्त्री-गमन का त्याग कर दिया। फिर वह पुरुष उस व्यभिचारिणी स्त्री के पास गया। उसने व्यभिचारिणी स्त्री को महात्मा द्वारा दिया गया उपदेश भी सुनाया और उसने यह भी कहा, कि मैने महात्मा से व्यभिचार का त्याग कर लिया है। यह सुनकर व्यभिचारिणी स्त्री के मन मे व्यभिचार से घृणा हुई, वह भी व्यभिचार के दुष्फल से भय-भीत हुई। अतः उस व्यभिचारिणी स्त्री ने भी महात्मा के पास

आकर पर-पुरुष-सेवन का त्याग कर लिया और सदाचारिणी बन गई * । इतने ही मे उस पुरुष की विवाहिता स्त्री ने सुना कि मेरे पति ने परदार-गमन का त्याग कर लिया है । यह सुनकर वह भी प्रसन्न होती हुई महात्मा के पास आई । उसने महात्मा से कहा, कि आपने मेरे पति को पर स्त्री का त्याग करा दिया, यह आपने बड़ी कृपा की । मेरे पति व्यभिचारी हो गये थे, और बहुत कहने सुनने पर भी वे नही मानते थे; इसलिए मै भी व्यभिचारिणी हो जाती, परन्तु आपकी कृपा से मेरे पति सुमार्ग पर आगये, अतः मै भी पर-पुरुष-गमन का त्याग करती हूँ ।

इस प्रकार एक व्यभिचारी पुरुष को उपदेश देने से उस पुरुष की पत्नि भी व्यभिचार मे प्रवृत होने से बच गई, तथा व्यभिचारिणी स्त्री ने भी व्यभिचार त्याग दिया । यह क्या बुरा हुआ ?

मतलब यह कि जिस प्रकार चोर को उपदेश देने से, चोर और धन के स्वामी का हित हुआ, उसी प्रकार मारने वाले को उपदेश-देने से, मारने वाले का और बकरे का हित हुआ; तथा उसी प्रकार व्यभिचारी को उपदेश देने से व्यभिचारी पुरुष,

---

* तेरह-पन्थियों में इस तरह की अनुकूल भावना तो होती ही नहीं है । उनकी भावना ऐसी कलुषित हो गई है, कि जिससे वे प्रतिकूल और पाप की ही कल्पना करते हैं ।

उसकी पत्नी तथा व्यभिचारिणी स्त्री तीनो का हित हुआ। इसमें पाप क्या हुआ ?

(३)

दया को हृदय से निकालने के लिए तेरह–पन्थी लोग एक यह युक्ति देते है कि—

'एक खड्डे मे थोड़ा सा पानी है, जिसमें बहुत सी मछलियाँ भरी हुई हैं । एक प्यासी भैंस पानी पीने के लिए आई । एक आदमी जो वहा खड़ा है, और खड्डे में पानी थोड़ा तथा मछली मेंढक बहुत होने की बात जानता है, यदि भैस को हांकता है, तो भैस प्यास की मारी मरती है, और नहीं हांकता है, तो खड्डे में की मछलियां, भैस के पैरों से मरती है । एक ओर दया करने पर दूसरी ओर हिंसा होती है । इसी से हम कहते है कि संसार में तो ऐसा चलता ही रहता है । अतएव अपने को न तो भैस पर ही दया करनी चाहिए, न मेंढक मछली पर, किन्तु मौन रखना चाहिए ।'

यह तेरह-पन्थियों की युक्ति है । इसका जवाब हम इस रूप में देते है, कि यदि उस आदमी ने छाछ या धोवण पिलाकर भैंस की प्यास भी मिटा दी और खड्डे में के मेंढक मछली को भी बचा दिया, तो यह तो ठीक हुआ मानोगे न ? अुसने दोनों ही पर दया की, इसमें तो पाप नहीं हूआ ? किन्तु तेरह-पन्थी तो

छाछ पिलाने मे भी पाप मानते हैं। साधु के सिवाय किसी को कुछ भी देने या बचाने मे एकान्त पाप मानते हैं।

(४)

तेरह-पन्थी कहते हैं कि 'एक बिल्ली चूहे को मारना चाहती है। यदि चूहो को बचाने के लिए बिल्ली को हांका जाता है, तो बिल्ली भूखी रहती है और उसको अन्तराय लगती है। इसी से हम कहते है कि किसी को बचाने मे धर्म पुण्य नहीं है।'

हम तेरह-पन्थियो की इस युक्ति का यह उत्तर देते है कि यदि किसी आदमी ने बिल्ली को भी दूध पिला दिया और चूहे को भी बचा दिया, तो इसमें क्या पाप हुआ ? दोनों ही बचे है।

(५)

तेरह-पन्थी कहते हैं कि 'एक गाय प्यासी बंधी हुई थी। एक आदमी ने दया लाकर उस गाय को पानी पीने के लिए खोल दिया। वह गाय पानी पीने चली; परन्तु एक दूसरे आदमी ने सोचा कि यह गाय इस तलैया में जा रही है। तलैया मे पानी बहुत थोडा है, और मेढक मछली बहुत हैं, जो गाय के पांव से दब कर मर जावेगे। ऐसा सोचकर उसने पानी पीने के लिए जाती हूई गाय को वापस हांक दी, गाय को पानी नहीं पीने दिया। इस तरह एक आदमी ने तो गाय की दया की, पानी में के मेढक मछली की दया नहीं की और दूसरे आदमी ने मेढक मछली की दया की,

गाय को अन्तराय दी। एक तीसरा आदमी भी वहां खड़ा है, जिसने मेंढक मछली की भी दया नहीं की, और गाय को भी अन्तराय नहीं दी, उसको भी पानी पीने से नहीं रोका, तो इन तीनो मे से सच्चा दयावान कौन ठहरा ?'

इस तरह भोले लोगों से प्रश्न करते है। भोले लोग-कह देते हैं, कि 'जो चुपचाप खड़ा रहा, वही सच्चा दयावान है।' परन्तु हम इस युक्ति को दुसरे रूप में रखते है।

एक गाय प्यासी बंधी थी। एक दयालु पुरुष को यह मालूम नहीं था, कि तलैया मे पानी कम है, और मेढक मछली मर जावेंगे, इसलिए उसने गाय को पानी पीने के लिए खोल दिया। दो आदमियो को यह मालूम था, कि तलैया मे पानी कम है, मेंढक मछली ज्यादा हैं, और यह प्यासी गाय वहां पानी पीने के लिए जावेगी, तो मेढक मछली की हिंसा हो जावेगी। यह मालूम होने पर भी एक आदमी तो चुपचाप ही खड़ा रहा, परन्तु दूसरे आदमी ने अपने घर से धोवन का अचित पानी लाकर गाय को पिला दिया। इस तरह उसने गाय की भी दया की और मेढक मछली की भी दया की। अब इन दोनो आदमियों मे से कौन अच्छा है ? जो चुपचाप खडा रहा वह दयालु है, या जिसने गाय की भी रक्षा की तथा मेंढक मछली की भी रक्षा की, वह दयालु है ? दोनों में कोई अन्तर है या नहीं ? दोनो

की दया करने वाले को तो दयावान मानोगे ? किन्तु तेरह-पन्थी दोनो को ही पापी मानते है ।

(६)

तेरह-पन्थी कहते है कि 'कुछ आदमी भूखों प्यासो मर रहे हैं । उनको गाजर मूला खिला तथा कच्चा पानी पिलाकर बचाया यह कितना पाप हुआ ! क्योंकि गाजर, मूला और कच्चे पानी में अनन्त जीव है । बचे तो कुछ आदमी, और हिंसा हुई अनन्तो जीवों की इसी से हम कहते है कि भूखो को खिलाना और प्यासो को पानी पिलाना पाप है ।'

इस तरह गाजर मूले और पानी के जीवो की हिंसा को आगे रखकर भूखे प्यासे को भोजन पानी देना पाप बताते हैं । यद्यपि उनका उद्देश्य तो लोगो के हृदय मे से दुःखी के प्रति दया निकालना है परन्तु उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे इस तरह की बात आगे रखकर लोगों को चक्कर में डालते है । हम उनकी इस युक्ति के उत्तर मे दूसरी युक्ति रखते हैं, जिसमें गाजर, मूला या पानी के जीवो की हिंसा का नाम भी नहीं है ।

मानलो कि कुछ आदमी भूखों प्यासों मर रहे थे । इस कारण वे एक बकरे को मार डालने की तैयारी में थे । इतने ही मे वहा से एक श्रावक निकला, जो गरम पानी ही पीता था, कच्चा पानी नहीं पीता था । उस श्रावक ने उन आदमियों से पूछा, कि

इस बकरे को क्यों मार रहे हो ? उन लोगो ने उत्तर दिया कि हम भूखे प्यासे हैं, इसलिए ! उस श्रावक के पास बहुत सी मिठाई वगैरा खाद्य पदार्थ भी था, और एक बड़ा लोटा था, जिसमे पक्का (गर्म) पानी भरा हुआ था । उस श्रावक ने अुन लोगो को मिठाई वगैरा खिलाकर तथा वह पक्का पानी पिलाकर उनकी भूख प्यास का दुःख भी मिटा दिया, तथा जो बकरा मारा जा रहा था, उसको भी बचा दिया । इस कार्य मे तो गाजर, मूला या कच्चे पानी के जीवो की हिंसा नहीं हुई, इसलिए इस तरह के कार्य को तो पाप न मानोगे ? अुन भूखे प्यासे लोगो का और बकरे का दुःख मिटा, यह तो पाप नहीं हुआ ? ऐसी दशा में किसी भूखे प्यासे का कष्ट मिटाने को पाप बताने के लिए गाजर, मूले और कच्चे पानी के जीवों की हिंसा को आगे रखना, लोगों को भ्रम में डालने के लिए ही रहा या और कुछ ?

(७)

तेरह-पन्थी कहते हैं, कि 'किसी आदमी का पेट दुःख रहा था, और वह मर रहा था । अुसका दुः मिटाने के लिए हुक्का पिलाया, इसमें आग पानी के जीवों की कितनी हिंसा हुई ? इसी से जीव को बचाना, या दुःख पाते हुए का दुःख मिटाना पाप है ।'

हम तेरह-पन्थी लोगो की इस दलील को दूसरे रूप मे सामने रखते हैं। मान लो, कि एक आदमी के पेट में जब तक दर्द होने लगता था, इसलिए वह हुक्का पिया करता था । जिसमे आग पानी के जीवो की हिंसा हुआ करती थी। किसी दयालु पुरुष नें अुस आदमी को एक ऐसी अचित दवा दी, कि जिससे अुसका पेट का दुःखना मिट गया तत्पश्चात् अुसने हुक्का पीना भी छोड़ दिया, जिस प्रकार से अुसका पेट दुखना बन्द हो गया और आग पानी के जीवो की हिंसा भी बच गई; इस काम मे तो उस दवा देने वाले आदमी को पाप नहीं लगा ?

इसी प्रकार कोई आदमी दारू पीता था और बहुत उत्पात करता था, घर के लोगों को मारा पीटा करता था, तथा दूसरे लोगो से भी झगडा किया करता था। इतना ही नहीं, वह घर मे का अनाज भी दारू खरीदने के लिए बेच दिया करता था, जिससे उसके घर के लोग भूखों मरते थे। यह देखकर एक दयालु आदमी उस दारू पीने वाले को दूध पिलाने लगा, जिससे उसकी दारू पीने की आदत छूट गई और वह भी पाप से बच गया, तथा उसके घर के लोग भी आर्त्तध्यान आदि के पाप से बच गये। इस काम में तो उस दूध पिलाकर दारू छुडाने वाले को पाप लगना न मानोगे ? यदि इन दोनो कामों मे भी पाप होना मानते हो तो फिर हुक्के से होने वाली हिंसा का नाम क्यों लेते हो ?

लोगों को आग पानी आदि के जीवों की हिंसा का नाम लेकर भ्रम में क्यों डालते हो ? स्पष्ट ही क्यो नहीं कहते कि किसी दुःखी का दुःख मिटाना, किसी मरते हुए जीव को बचाना पाप है, चाहे दु.ख मिटाने या बचाने मे किसी जीव की हिंसा न भी हुई हो, और अचित (निर्जीव) पदार्थ के देने, अथवा निर्वद्य (पाप रहित) उपाय के करने से ही किसी का दु ख क्यों न मिटा हो, या कोई मरता हुआ जीव क्यों न बचा हो !

तेरह-पन्थी साधु इसी तरह की अनेक युक्तियाँ देते है, जिन्हें कुयुक्तिया कहना कुछ भी बुरा न होगा। उन सब का वर्णन या खण्डन ग्रन्थवृद्धि के भय से नहीं किया गया है, किन्तु उनमे की कुछ ही युक्तियो का हमने वर्णन किया है, और तेरह पन्थी साधुओं की युक्ति का खण्डन करने वाली युक्तियां दी है। हमारे द्वारा वर्णित युक्तियो पर से बुद्धिमान व्यक्ति न सब युक्तियो के विरुद्ध युक्ति की कल्पना कर सकता है, जो तेरह-पन्थी साधुओ की ओर से दी जावें।

हमने अपनी ओर से जो युक्तियां ऊपर दी है, वे युक्तियां तेरह-पन्थियो से प्रश्न करने के रूप में भी काम मे लाई जा सकती है। ऐसा करने से तेरह-पन्थियो की मान्यता का नग्न रूप सामने आ ही जावेगा और यह पता लग जावेगा कि तेरह--पन्थियों की मान्यता का असली रूप क्या है, तथा वे उस असली रूप को

छिपाने के लिए कैसी-कैसी तरकीबों—युक्तियो आदि से काम लेते है ।

नोट—तेरह-पन्थ के सैद्धान्तिक ग्रन्थ 'भ्रम-विध्वंसन', 'भिक्षु-यश रसायन', 'अनुकम्पा की ढाले' और 'बारह व्रत की ढालें', इसी तरह की कुयुक्तियो से भरे पड़े हैं । लोगों द्वारा उन कुयु-क्तियों का खण्डन और विरोध होता देखकर तेरह-पन्थ सम्प्रदाय के कर्णधारो ने अब इन पुस्तकों का बेचना और किसी को देना तक बन्द कर दिया है । आप, तेरह-पन्थी साधुओ से इन पुस्तको के विषय मे पूछिये, और इनको मंगवाने का प्रयत्न कीजिये, तब आपको हमारे कथन पर विश्वास हो जावेगा ।

॥ स त ॥



परिशिष्ट नं. १

इस उद्धरण से तेरह-पन्थ सम्प्रदाय के संकुचित मानस का परिचय होगा

थली में पांच दिन का प्रवास

(ले० श्री भँवरमलजी सिंघी, 'तरुण जैन' नामक मासिकपत्र से उद्धृत अंक-दिसम्बर १९४१ के लेख का उपयोगी अंश)

मैं तारीख ६ नवम्बर की रात को लाडनू पहुँचा। लाडनू में एक ही दिन मे कई संस्थाओं को देख सका और बहुत से लोगो से बहुत से विषयो पर चर्चा विमर्श करने का मौका मिला, इसका श्रेय लाडनूं के उन मित्रों को है जिन्होंने अपना समय देकर मुझे कृतार्थ किया।

दूसरे दिन सुबह मेरे मित्र श्री मूलचन्दजी बैद और मैं पड़िहारा जाने के लिए सुजानगढ स्टेशन तक ऊंट पर गये। वहां

से रेल द्वारा दिन के १० बजे पड़िहारा पहुंचे । वैसे पड़िहारा जाने का कोई कारण नहीं था—पर चूंकि तेरापन्थी सम्प्रदाय के आचार्य श्री तुलसीरामजी, जिनको आम तौर से 'पूज्यजी' कहा जाता है, उस समय पडिहारा में थे, इसलिए उनसे भेट करने की इच्छा हमें वहां लेगई । पड़िहारा स्टेशन पर ट्रेन से उतरते ही हमे 'पूज्यजी' के दर्शन के लिए आने जाने वाले यात्रियों की चहल-पहल दिखाई दी । स्टेशन से बाहर की एक लारी खडी थी, जो पूज्यजी के दर्शन के लिए आने वाले यात्रियों को स्टेशन से गांव मे लेजाने और वहा से वापस लाने के लिए हर ट्रेन टाइम पर स्टेशन पर आया जाया करती थी । इसी लारी मे बैठकर हम गाव में उस स्थान पर पहुँचे, जहां 'पूज्यजी' विराजे हुए थे ।

जिस समय हम महाराज के पास गये, उस समय वे 'आहार' के लिए जाने वाले थे; इसलिए साधारण परिचयात्मक बात-चीत के बाद हम भी उस समय वापस आ गये । आहार के बाद तथा और कोई धार्मिक क्रिया थी तो उसके बाद हम उनसे मिले । पूज्यजी के पास एक तरफ साधु साध्वी बैठे थे और दूसरी तरफ दर्शनार्थी श्रावकगण । तब से लगाकर शाम के ३॥–४ बजे तक का अपना बहुत सा समय पूज्यजी ने मेरे साथ बातचीत करने में दिया, इसके लिए मै यहां उनका आभार स्वीकार करना अपना फर्ज समझता हूं ।

इस मुलाकात के सम्बन्ध मे चूकि बहुत से प्रश्न मुझ से किये गये है, इसलिए मै कुछ विस्तार से अपने अनुभवो को व्यक्त करूँगा। सब से पहले मुझे यह कहना है कि मैं पूज्यजी के पास यह देखने के लिए नहीं गया था कि वे और उनके अधीनस्थ साधु शास्त्रोक्त क्रियाओं का पूरा पूरा पालन करते है या नहीं। मेरी ऐसी दृष्टि ही नहीं है। मेरे निकट तो सच्चे साधु की परीक्षा यह है भी नही। मुझे तो जीवन से मतलब है, जीवन को मै देखता हू। वही देखने की चीज है भी। अगर जीवन मे साधुत्व हुआ, तो वह खुद बोला करता है। उसे शास्त्रों के विधि-विधानों की आवश्यकता रह ही क्यों जायगी? प्रत्येक मानव प्राणी का ध्येय अपने जीवन का निरन्तर विकास करना है—ऐसा विकास जो दूसरो के जीवन विकास मे बाधक तो होता ही नहीं बल्कि मदद करता है। यह जीवन विकास ही सच्चा सुख है और सन्तों की भाषा मे 'आत्म कल्याण' है। पर यह समझना जरूरी है कि समग्र जीवन एक है, उसके अलग अलग टूकड़े नहीं हो सकते। इसलिए जीवन-विकास के ध्येय की प्राप्ति सारे जीवन के विकास से होती है। इसके लिए हमे जीवन के भीतर और बाहर सब जगह शुद्धि का वातावरण चाहिये। संयम, तप और त्याग के द्वारा अपनी शक्तियो का विकास करना तो जरूरी है ही, पर यदि इन विकसित शक्तियो का उपयोग नहीं किया जाय या

इस भांति उपयोग न किया जाय जिससे जगत का अधिक से अधिक कल्याण हो, तो उस तप, त्याग और संयम से कोई लाभ नहीं हो सकता। ऐसी हालत मे तो वे जीवन में उल्टी कृत्रिमता पैदा करते हैं। इसलिए मै तप, त्याग और संयम को उस समय तक कोई महत्व नहीं देता जब तक कि यह न मालूम हो जाय कि उनका उपयोग किस तरह किया जा रहा है।

इस दृष्टि से विचार करने पर, मैने पड़िहारा मे जो कुछ देखा, उससे मुझे कोई सन्तोष नहीं मिला। पूज्यजी से जो बाते हुई, अुनमे विचारक की सजगता नहीं मिली, जीवन विकास के अुम्मीदवार की जागरूक बुद्धि और अुदार दिल भी नहीं मिला। आज प्रायः अधिकांश 'साधुओ' की यही हालत है और पूज्यजी उसके बाहर नहीं है। यहां मेरा उद्देश्य उन सारे प्रश्नो की चर्चा करने का नहीं है, जिन प्रश्नो पर पूज्यजी के साथ मेरी बात–चीत हुई। उन सब की चर्चा करना न तो आवश्यक ही है और न सम्भव ही है। मैं यहां सिर्फ अपने विचार ही प्रकट करूँगा, जो पूज्यजी से मिलने के बाद मेरे मन मे उत्पन्न हुए।

यदि किसी प्रश्न पर शास्त्र को छोडकर वे विचार ही नहीं कर सकते–शास्त्र मे जो कुछ लिखा है या जो कुछ लिखा हुआ

वे मनाते है * उसमें किसी भी तरह का परिवर्तन करना उनको मंजूर ही नहीं, तब चर्चा से मतलब ही क्या निकल सकता है? परिवर्तन करना उनकी दृष्टि से धर्म-च्युत होना है? 'कोई बात कितनी ही ग्रहण करने योग्य क्यों न हो, अगर शास्त्र मे उसको ग्रहण करने का नहीं लिखा है, तो वह अग्राह्य ही है।' मेरी समझ में जीवन विकास करने वाले की यह दृष्टि नहीं हो सकती। ऐसे आदमी को मै शास्त्रो के प्रति सच्चा भले ही कह दूं, पर जीवन के प्रति या मनुष्यता के प्रति तो कभी सच्चा नहीं मान सकता। जिस जीवन में मुझे स्पष्ट मानवता का विरोध दिखाई दे रहा है या कम से कम मानवता की तरफ पेक्षा पोषित की जा रही है, उसका लाख लाख शास्त्र समर्थन करे तो भी मै उसे निर्दोष नहीं कह सकता।

साधुत्व का वेष पहन लेने के कारण ये साधु संसार से अपना कोई वास्ता नहीं समझते, यह देख और सुनकर तो मेरे आश्चर्य का पार न रहा। 'संसार त्याग' का अर्थ इन्होने यह किया है कि अब संसार के प्रति उनकी कोई जिम्मेवारी ही नहीं रह गई है। उनका उद्देश्य तो आत्म कल्याण की साधना करना

---

* शास्त्रों के पाठ का अर्थ चाहे कुछ भी होता हो। पर उन्होने जो मान रक्खा है, उसी को आगे लाते हैं, किन्तु सूत्र के फलीतार्थ या आशय पर विचार करने की शक्ति ही नहीं है। —प्रकाशक

हैं; और यह आत्म कल्याण भी जरा विचारने की चीज है; जो अन्य किसी भी चीज से मेल नहीं खाता। अगर पास की झोपडी में ही एक अनाथ बालक रुग्णावस्था की वेदना से कराह रहा हो तो भी ये आत्म-कल्याणी साधु उसकी सेवा करने जाकर अपने आत्म-कल्याण को खण्डित नहीं कर सकते; क्योंकि उनके शास्त्र मे रोगी की सेवा करना आत्म-कल्याण का रास्ता नहीं बताया है।

इस तरह की जड़ बुद्धि से जहां सारा जीवन-व्यापार चल रहा है, वहा किस साधुता की परिक्षा करूं ? यह कहे जाने पर कि 'मीलो के वस्त्र मे ज्यादा हिंसा होती है, इसलिए आपको खादी ही काम में लानी चाहिये।' तब यह जवाब मिला कि 'हमारे लिए तो दोनो (वस्त्र) हिंसा से मुक्त है क्योंकि वे हमारे लिए तैयार नहीं किये गये हैं' तो उनकी बुद्धि पर तरस आये बिना नहीं रह सका। ऐसे ही लोगो के लिए और इसी तरह का तर्क किये जाने पर रूस के महान् विचारक टालसटाय ने लिखा होगा। कि "मनुष्य कहीं भी और किसी रूप मे रहता हो; पर यह निश्चित है कि उसके सिर पर जो मकान की छत है, वह स्वयं नहीं बनी, चूल्हे में जलने वाली लकड़िया भी अपने आप वहां नहीं पहुंच-गई, न पानी बिना लाए स्वयमेव आगया और पकी हुई रोटियां भी आसमान से नहीं बरसीं। उनका खाना,

कपड़ा और पैरो के जूते ये सब उनके लिए बनाए गये हैं, और इनके बनाने वाले पिछली पीढ़ियो मे रहने वाले वे लोग नहीं थे, जो अब सब मर-खप गये है। ये सब काम आजकल विद्यमान रहने वाले वे ही लोग कर रहे है, जो अपनी जरूरते पूरी करने नहीं पाते और दुनिया मे दूसरों के लिए मेहनत करते घुल घुल कर मर जाते है।"

खेती करने मे और हर प्रकार की प्रवृत्ति में ये साधु पाप बताया करते है और पाप से मुक्त होने का उपदेश दिया करते है, पर जब उनसे सीधा प्रश्न किया जाता है कि 'अगर सभी आपका उपदेश मान ले और पाप समझ कर हर प्रकार की उत्पादक प्रवृत्ति छोड़ दे तो हमारा और आपका जीवन कैसे चलेगा और यह आत्म कल्याण कैसे निभेगा ?' तो ऐसे प्रश्नों से वे अपना कोई वास्ता नहीं समझते और टालस्टाय के ही शब्दो मे "उस प्रश्न से बिल्कुल असम्बद्ध प्रश्नो की पाण्डित्य पूर्ण चर्चा करने लग जाते है।' संसार के नाम पर सभी तरह की प्रवृत्तियाँ आदमी करते है और कर सकते है, साधुओ को उससे कोई मतलब नहीं; पर मैं पुछता हूं, प्रवृत्तियों से चाहे वे मुक्त हो, पर प्रवृत्तियो के परिणाम से कहां मुक्त हैं ? खेती करने को वे पाप बताते है, पर अन्न वे खाते हैं; कुआँ खुदाने को पाप कहते हैं, पर कुएँ का पानी वे पीते है, कपड़ा बुनने और बुनवाने में वे पाप

समझते है, पर कपड़ा वे पहनते हैं; रोगी-उपचर्या और चिकित्सा मे वे धर्म नहीं समझते, पर औषधि-चिकित्सा वे कराते हैं।

इन सब प्रश्नो का उनके पास जवाब है कि 'पंच महाव्रतधारी' को इनमे पाप नही लगता क्योंकि ये सब उनके निमित्त नही किये जाते। बस, पंच महाव्रतधारी इन प्रवृत्तियो के पाप से मुक्त हैं, उन्हे यह सन्तोष रहता है कि किसी को कह कर वे यह नहीं कराते है, और यह मालूम हो जाने पर कि उनके निमित्त से वे की गई है तो वे उनका लाभ नही लेते *। पर यह कोई कहे तभी तो मालूम हो ? क्योंकि जिस साधारण बुद्धि से यह मालूम हो भी सकती है, उसे तो वहा स्थान ही नहीं है। वहां तो केवल शास्त्रीय बुद्धि है।

दान की भी ऐसी ही स्वार्थ पूर्ण विडम्बना की गई है। पंच महाव्रतधारी साधु को दान देने में धर्म है, और अन्य किसी को देने मे धर्म नही है। इसको कहते हैं वे सुपात्र-दान! और ऐसे सुपात्र तेरा-पन्थी साधुओं के सिवाय और किसी का होना शायद ही सम्भव हो। मैने पूज्यजी से पूछा कि "अगर सत्य और अहिंसा

---

* इस विषय मे भी ढाक पिछोड़ा हो रहा है, केवल शब्द से पूछ लेने मात्र से कि यह आपके लिये नही बनाया गया है निर्दोष और प्रासुक नहीं हो जाता, जब तक कि उसकी उत्पत्ति के उद्देश्य पर विचार व मनन नही किया जाय। —प्रकाशक

की साधना पर ही पच महाव्रतो का आधार है, तो एक प्राणी के लिए जितना अहिसा-पालन सम्भव हो सकता है उतना यदि एक आदमी करता है, फिर भी न तो वह पंच महाव्रतों की व्याख्या ही जानता है, और न अमुक प्रकार का वेष पहनता है और न अमुक प्रकार का अध्ययन ही करता है और न अमुक प्रकार की क्रियाएँ ही करता है पर वो अपना सारा जीवन अपने अहं को कुचलकर दूसरों की सेवा मे खपाता है, तो वह सुपात्रो की गिनती में आता है या नहीं ?" यह कहते हुए कि 'आ सकता है' महाराज को काफी कठिनाई सी हुई । खैर, उन्होने इतना स्वीकार तो कर लिया, यही क्या कम है ? इन सारी बातों से यही मालूम होता है कि बुद्धि और विचार के लिए बहुत कम गुंजाइस इस तरह के सम्प्रदायवाद के घेरे मे रह गई है। जहा बुद्धि इतनी संकुचित है, हृदय इतना संकीर्ण है, जीवन के कर्तव्य इतने सीमित है, वहा मानवता के लिए है ही क्या ?

दीक्षा देने समय पूज्यजी दीक्षा लेने वाले के अभिभावक से एक आज्ञा—पत्र लेते है । गत चातुर्मास मे दी हुई दीक्षाओं के ऐसे आज्ञा-पत्र मेरे सामने रखे गये, शायद यह दिखाने के लिए कि लड़के—लड़कियो के अभि—भावक की आज्ञा मिलने पर ही दीक्षा दी जाती है। मैने दो तीन आज्ञा-पत्र पढ़े, लगभग सब का एक ही मसविदा था। इस आज्ञा—पत्र के अन्तिम हिस्से मे

कुछ इस आशय के शब्द है कि 'यह मै जो आज्ञा देता हूं, उसके कभी खिलाफ नहीं होऊँगा और पंचायत, राज दरबार ब्रिटिश सरकार मे मेरी कोई आपत्ति नही चलेगी।' शब्द चाहे जो हैं, भाव कुछ इसी प्रकार का है। मुझे यह पढ़कर बड़ा आश्चर्य हुआ। जिस सामाजिक शक्ति और राज्य सत्ता को ये साधु कुछ समझते ही नहीं, उनका कोई महत्व ही नहीं मानते, तब उनकी मदद की भावना को दर्शाने वाले शब्द आज्ञा-पत्र मे क्यो लिखाये जाते है। पर भीतर की कमजोरी बाहर आए बिना नहीं रह सकती। कहीं कोई साधु-संस्था पर ही राज्य की मदद से नाबालिग बालको के अपहरण (जिसको दीक्षा कहा जाता है). का अभियोग न लगा दे; इस भय के कारण ही आज्ञा-पत्र लेने और उसमें इस तरह के शब्द लिखाने की आवश्यकता हुई। मेरी आपत्ति पर पूज्यजी ने जवाब दिया कि 'यह कोई खास बात नही है। वर्षों से ऐसा ही स्वरूप चला आता है। एक दो दफा पहले झंझट आ चुकी है, इसलिए ऐसा कर दिया गया है।' साधुओ के लिए, अहिंसा को मानने वालो के लिए झझट क्या हो सकती है और इससे बचने के लिए हिंसा-शक्ति पर आश्रित राज्य सत्ता की अप्रत्यक्ष मदद की भी उन्हे क्या दरकार है? साधुओ की अहिंसक शक्ति का यह एक नमूना है।

तेरा-पन्थी साधुओ का डाक से कोई सम्बन्ध है या नहीं, यह प्रश्न भी उठा। 'तरुण जैन' मे इस बारे मे मैने पहले कुछ लिखा था; उसी को लेकर यह चर्चा चली। इस प्रश्न मे 'तरुण' के पाठको को भी दिलचस्पी होगी, इसलिए मैं इसके विषय मे कुछ लिख रहा हूँ। मेरे यह कहने पर कि "आपके साधु भी जब डाक द्वारा आये हुए पत्र पढ़ते है और उन पर अपनी सम्मति भी देते हैं, तब डाक से आप का सम्बन्ध कैसे अलग माना जाय ?" पूज्यजी ने कहा, "साधु केवल 'वंदना' के पत्र पढ़ते हैं, और कुछ नहीं पढ़ते; इसमे कोई दोष नहीं है।" मुझे मालूम पड़ा कि उन्हे इसी से सन्तोष है कि उनके नाम न तो कोई पत्र आता है और न वे पत्र लिखते है। हां, गृहस्थ कोई बात पूछता है, तो उसका जवाब देना तो उनका फर्ज है ही। मैने पूछा—'आप से गृहस्थो को मिला हुआ जवाब उनके द्वारा दूर गांवो के विचरण करने वाले साधुओ के पास डाक द्वारा उस गांव के श्रावको के मारफत पहुँचाया जाता है और उसे वहां वाले साधु आपकी आज्ञा मान कर ही स्वीकार करते है। इससे क्या आप यह नहीं मानते कि डाक के साथ आपका अप्रत्यक्ष सम्बन्ध हो जाता है चाहे आप खुद अपने नाम से पत्र व्यवहार न करें।" इस पर भी जब उन्होने कहा—'नहीं,' तब फिर चर्चा की

गुंजाइश ही नहीं रही। बात कुछ भी हो, मानना या न मानना तो उनकी मर्जी की बात है।

इसके बाद मैंने साधुओ के द्वारा बनाई हुई तसवीरे देखी, सुन्दर अक्षर-लेखन के उत्कृष्ट नमूने देखे, तेरा-पन्थी सम्प्रदाय के लिए प्रकट की हुई तारीफ के सरकारी गजट देखे; सन्त और सतियो की भीड देखी; श्रावकों की भक्ति और सेवा-भावना का अतिरेक देखा; साधुओ की दिनचर्या देखी और सुनी। यह भी सुना कि अमुक साधु ने २००० और अमुक ने ५०००-७००० श्लोक याद कर रखे है, पर मुझे तो असली साधुत्व के दर्शन करने थे। इन तसवीरो मे, इन गजटो मे, इन आज्ञा पत्रो मे और इन हजार हजार श्लोको की रटना मे साधुत्व कहा से आवे ? जिसकी आत्मा इतनी छोटी है कि संसार की वेदना को वह अपनी वेदना नही समझ सकता, संसार की समस्याओ को सुलझाने मे कोई योग नही दे सकता, समाज और राष्ट्र को सच्चा मार्ग-दर्शन नहीं दे सकता, उसका कैसा आत्म कल्याण ? शरीर से आत्मा अलग नही हो सकती, तो संसार और समाज से धर्म भी अलग नही हो सकता। आत्मा के विकास के लिए शरीर का पोषण किये बिना काम नहीं चलता, वैसे ही धर्म की साधना और विकास के लिए भी समाज और संसार की सेवा करना जरूरी है। स्वार्थ को छोड़कर निस्वार्थता का सम्बन्ध तो संसार

के साथ बना ही रहता है। दूसरे लोग निस्वार्थ भाव से, सेवा भाव से साधुओ के लिए सब कुछ कर सकते है; भोजन देते ही हैं, वस्त्र देते ही हैं, औषधि देते ही हैं, सेवा करते ही हैं, पर ये खुद अपने वर्ग के बाहर न किसी को भोजन दे सकते हैं, न औषधि दे सकते है, न सेवा कर सकते है, क्योंकि वैसा करना साधुत्व के खिलाफ है। खिलाफ क्यों है, इसका जवाब तो शास्त्रों से माँगना होगा।

इन साधुओ को लक्ष्य में रखकर ही मानों टाल्स्टाय ने लिखा होगा कि "उनके पास शास्त्रो के अलावा जीवन के प्रश्नो को हल करने का और कोई मार्ग ही नही है। अपने शास्त्र के बाहर की किसी भी नई बात पर स्वतन्त्र रूप से विचार करने की बात तो दूर रही, वे दूसरे लोगों के ताजा मानवीय विचारो को समझने मे भी असमर्थ होते जाते है। खास बात तो यह है कि ये जीवन का सर्वोत्कृष्ट समय जीवन के नियम को अर्थात् श्रम करने की आदत को भुलावे मे ही खो देते है और बिना मिहनत किये ही संसार की चीजो के उपभोग करने का अपने को हकदार मानने लग जाते है। इस प्रकार वे बिल्कुल निकम्मे और समाज के लिए हानिकारक बन जाते है। उनके दिमाग बिगड़ जाते है और विचार करने की शक्ति नष्ट हो जाती है।"

मै जानता हूं कि साधु समाज के खिलाफ अपने सच्चे से सच्चे विचार प्रगट करना भी आज एक गुनाह समझा जाता है। इसलिए

यदि मेरे इन विचारों पर सम्प्रदायान्ध और धर्मान्ध लोग बिगड़ उठे तो कोई ताज्जुब की बात न होगी । धर्म गुरु भी यदि मेरे इन 'अशास्त्रीय' विचारो पर तिलमिला उठे तो मुझे कोई आश्चर्य नहीं होगा । ये विचार ऐसे है ही नही, जो आसानी से हजम हो सके और खास तोर से उस व्यक्ति के लिये जिसमे कोई भी नई वस्तु हजम करने की ताकत ही नहीं रह गई है । पर मैने तो अपने विचार निस्संकोच और निर्भिकता के साथ प्रकट कर दिये है । एक बात जरूर मै स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि मैने तेरा-पन्थी सम्प्रदाय की आलोचना नही की है, पर उस निकम्मे जीवन की आलोचना जरूर की है जिसे मै आज धर्म के नाम पर पोषण मिलता हुआ देखता हूं । यद्यपि आज मैने ये विचार तेरा-पन्थी सम्प्रदाय के साधुजी से हुई मुलाकात के प्रसंग में प्रकट किये है, पर थोड़े बहुत फर्क के साथ ये विचार आज सभी फिरको के जैन साधुओ पर लागू होते है । कोई यदि इन विचारो को धर्म-द्रोही और शास्त्र-द्रोही कहे तो मुझे आपत्ति न होगी, पर यदि कोई इनको एक सम्प्रदाय विशेष की आलोचना के रूप मे बतावेगा, तो इस तरह मेरे विचारो को गलत समझा जाने पर मुझे दुख होगा । पड़िहारा की मुलाकात के बारे में इतना ही ।



श्री 'भग्न हृदय' की चिट्ठी

(तरुण जैन नामक मासिक पत्र अंक १ जनवरी १९४२ से उद्धृत)

मान्यवर सम्पादकजी !

गत दिसम्बर के अंक में आपका 'थली में पांच दिन का प्रवास' लेख पढ़ा पढ़कर उस पर विचार किया और विचार करने के बाद आपको यह पत्र लिख रहा हूं। सब से पहले तो मुझे आप को यह उपालम्भ देना है कि आपने थली में जाने की मुझे सूचना भी नहीं दी। अगर आपकी सूचना मुझे मिल जाती तो मैं भी अवश्य आपके साथ इन पांच दिनों में घूमता और खासकर पूज्यजी के साथ आपकी जो मुलाकात हुई, उस समय मौजूद रहता जिससे पूरी पूरी बातचीत सुन पाता। आपने अपने लेख में बहुतसी बातों पर, शायद जल्दी और स्थानाभाव के कारण, केवल संकेत भर ही किया है, जिससे पूरी बातचीत को जानने की मेरी बड़ी उत्कण्ठा हो रही है। खैर, अब तो जो कुछ आपने अपने लेख में लिखा है, उसी से सन्तोष मानना होगा। अगर कोई विशेष बातें बाकी रही हों, तो उन पर फिर कभी प्रकाश डालें तो अच्छा हो।

मेरा और मेरे कुछ दूसरे मित्रों का भी ऐसा खयाल है कि पूज्यजी से मुलाकात करने वाले जितने विद्वान उनके पास आये, उनमें से किसी ने भी इतनी स्पष्टता के साथ अपने विचार प्रकट नहीं किये जितने कि आपके लेख में मिलते हैं। मैं समझता हूं कि आपकी स्पष्टता और सच्चाई की तो पूज्यजी महाराज पर भी अवश्य छाप पड़ी होगी। आपके इस लेख से एक बड़ा फायदा यह भी हुआ कि अब भविष्य में पूज्य श्री यह कहने का साहस नहीं करेंगे कि हमारे पास जो लोग आकर बातचीत कर गये, उनकी सब शंकाएं हमने दूर कर दीं और उन्होंने हमारी बात मंजूर करली। अब तक तो पूज्यजी मुलाकात करने के लिए आने वाले किसी भी व्यक्ति को यह बात अवश्य कहा करते थे। शायद आपसे भी अवश्य कहा होगा। आने वाले व्यक्ति पर अपना प्रभाव डालने के लिए ही ऐसा कहा जाता है और करीब करीब लोग इस प्रभाव में आ ही जाते हैं, क्योंकि हर एक को तो भीतरी अवस्था का पता नहीं होता। आपने अपनी खरी राय इतनी स्पष्टता के साथ प्रकट कर जिस साहस का परिचय दिया है, उस से अवश्य समाज की आंखें खुलेंगी, ऐसा मेरा पक्का विश्वास है।

आपने एक वार किसी पत्र में लिखा था कि 'आपकी सम्प्रदाय के साधुओं के क्रिया कलाप के बारे में मैं बहुत कम जानता हूं। अच्छा हुआ कि इस बार आप स्वयं अपनी आंखों से हमारे साधु

संस्था की लीला भी देख आये; और जो कुछ देखा उसका वर्णन भी कर दिया। मै समझता हूं आप पड़िहारा मे जो देख कर आये है उसके बाद मेरे इस कथन से अवश्य सहमत हुए होगे कि साधु संस्था का मानस आज बिलकुल गलित हो चुका है। उसमे जो कुछ डाला जाता है, वह सब सड़ और गल जाता है, कोई मौलिक वस्तु तो वहा पैदा ही नहीं हो सकती। ऐसे लोगो के हाथो मे जिस धर्म और समाज का नेतृत्व हो, उसका भविष्य अन्धकार मय है। अयोग्य हाथो मे पड़कर अच्छे से अच्छे साधन भी निष्फल और निरर्थक हो जाते है, यह कहावत आज हमारे साधुओ के विषय मे पूरी तरह सत्य साबित हो रही है। अहिंसा का शक्ति शाली शस्त्र गलत तरह से प्रयोग किये जाने के कारण तेज प्रदान करने के बदले हमे निराश बना रहा है। मै यह दावे के साथ कह सकता हूं कि थली की बौद्धिक और सास्कृतिक दृष्टि से आज जो अवस्था उत्पन्न हुई है, उसके कारणो मे समाज के प्रति साधु संस्था की मनोवृत्ति ही मुख्य है। यह मनोवृत्ति गहरी निराशाजनक है। जब तक यह मनोवृत्ति रहेगी, तब तक थली के लोगों की दिमागी और तहजीबी हालत मे कोई सुधार नहीं होगा। और मानवता का कोई मूल्य यहा के लोग नहीं समझेगे। जो लोग कभी कदास इन साधुओ के पास आ जाते है, उनके सामने ये ऐसी उत्कट नैतिकता और कष्ट—

सहन का चित्र खीचते है कि वह इनकी असली हालत को जाने बिना ही इनकी तारीफ करने लगता है। अपने त्याग की हरेक बात को इतनी बड़ा कर आने वाले को वे कहते हैं कि उससे भोले व्यक्ति प्रवञ्चना मे फँस जाते है। ये साधु अपने श्रावकों के सामाजिक और लौकिक कार्यों से अपने को बिलकुल मुक्त बतलाते हैं। पर यह बिलकुल झूठ है क्योकि दुनिया का कोई काम ऐसा बाकी नही रहा है, जिसका इन्होने पाप और धर्म मे बँटवारा न कर दिया हो। पाप और धर्म की सूचियों में सभी कार्यों का वे वर्गीकरण कर देते है और रात दिन यह उपदेश दिया करते है कि धर्म करने का और पाप नहीं करने का है, इनके धर्म का मानवता के साथ कोई समबन्ध नहीं है, इसलिए मानव जाति की उन्नति के जितने कार्य हैं, वे सब पाप की सूची में रखे गये है। हमारे साधुओं ने सिखाया है कि जब तक उनकी तरह किसी ने संसार का त्याग कर पंच महाव्रत नहीं धारण किये है, तब तक उसकी सेवा करने या उसको दान देने में धर्म नहीं है, बल्कि कर्म-बन्धन स्वरूप पाप है। समाज के बालक बालिकाओं के लिए शिक्षालय या स्वास्थ्यालय खोलना भी हमारे साधुओ के उपदेशानुसार धर्म कार्यों की सूची में नहीं आता। इस तरह यह धर्म, समाज के लिए कुछ भी नही करता, बल्कि किये जाते को रोकता है, और फिर भी जैसा आपने बहुत ठीक ठीक लिखा

है, समाज से अपने लिए नाना भांति की सेवा लेते रहने में कोई आपत्ति नहीं समझता। आप अगर १०–१५ दिन लगातार हमारे साधुओं की सेवा (!) का लाभ लें तो आपको पता लगेगा कि जहां पूज्यजी की सवारी पहुँच जाती है, वहां के समाज की इस सेवा के भार से क्या हालत हो जाती है। माघ महोत्सव और चातुर्मास के दिनों में गांव वालों की परेशानियां इतनी बढ़ जाती हैं, कि जिसका कुछ ठिकाना नहीं।

सम्पादकजी! मुझे सचमुच अपने समाज के उन हजारों स्त्री पुरुषों पर तरस आता है, जो विवेक की आंखे बन्द हो जाने के कारण इनके जाल में फँसे हुए हैं। थली के गाँवों की सार्वजनिक और सांस्कृतिक हालत का जो दिग्दर्शन आपने अपने लेख में कराया है, उसको पढ़कर क्या हमें शर्म नहीं आती? हमारा मस्तक झुक जाता है, हमारा यौवन बलवा कर उठता है, पर क्या करें सम्पादकजी! यह सब हमारे उन साधुओं की कृपा है। जहां ये विराजते है, वहां आस पास कोसों तक मानवता के खेत सूख जाते है क्योंकि इनके उपदेश ही ऐसे हैं। हम जानते है कि इससे जैन धर्म कलंकित हो रहा है क्योंकि हमारी तरफ़ की जनता तो इन्हीं जैन मूर्तियों को ज्यादा देखती है, और इस बात से प्रभावित भी होती है कि इनको मानने वाले सब सेठ लोग है, लाखों और करोड़ों रुपया कमाते है। ये साधु खुद तो परिवार,

गांव, समाज और देश के धर्म को मानते ही नहीं और उनके प्रति कोई जिम्मेवारी भी नही समझते, पर हम लोगो को भी इन सब कामो में एकान्त पाप ही पाप बताया करते है। तब आप ही बताइये; हमारे गांवो की हमारे समाज की और हमारी ओर से देश की हालत कैसे अच्छी हो? हमारे बालक और बालिकाओं मे दूसरे संस्कार कैसे पड़े? उनके अन्दर समाज और देश की सेवा की महत्वकाक्षाएँ कैसे उत्पन्न हो, जब कि उन्हे यही सिखाया जाता है कि अगर तुम्हें अपना जीवन सफल करना है, सच्ची उन्नति करना है तो संसार को छोडो और हमारी टोली मे शामिल हो जाओ। सचमुच इस टोली मे जाते ही मनुष्य को सारे सुख मिल जाते है। बिना परिश्रम किये विभिन्न प्रकार का स्वादिष्ट भोजन मिलता है, पहनने को कपड़े मिल जाते है, और रात दिन हजारो स्त्री पुरुषों की सेवा? इससे ज्यादा और सुख की कल्पना ही क्या हो सकती है? इसी सुख-इसी आत्म कल्याण' के लिए हर वर्ष उमीदवारो की संख्या बढ़ती जाती है। पूॅजीवाद और साम्राज्यवाद की तरह इसमे भी ज्यो ज्यो संख्या बढ़ती जाती है, त्यो त्यो इस टोली की सत्ता भी बढ़ रही है जिसने हमारे सारे समाज को गुमराह बना दिया है।

इतना सब होते हुए भी, अब भीतर ही भीतर युवको में असन्तोप की अग्नि जल रही है। दुनिया की तरफ से वे आंखे

बन्द नहीं कर सकते और जब दुनिया की तरफ देखते हैं, दुनिया की जटिल समस्याओ पर गौर करते हैं, तो यह महसूस किये बिना भी नहीं रह सकते कि उनको मिलने वाले उपदेश उन्हे ह्रास की ओर ले जा रहे हैं। आज के युवक को मन्दिरो के साज शृंगार अच्छे नहीं लगते हैं, न इन सफेदपोश रूढिगामी मुफ्त-खोरों की सादगी ही पसन्द आती है। वह तो जीवन का पुजारी है, मानवता का भक्त है और विश्व-प्रेम का प्रेमी है। आज आपने जिस थली मे निराशा के बादल घिरे हुए देखे है, उसी में कुछ वर्षो बाद आप वह जबर्दस्त विचार क्रांति देखे तो कोई आश्चर्य नहीं, जो वर्षो तक दबे हुए विचारो मे से उत्पन्न होती है। 'तरुण जैन' ने दो वर्षो में थली मे बहुत बड़ा काम किया है, जिसका वास्तविक मूल्य आज नहीं समझा जा सकता, पर उस दिन मालूम होगा, जब कि थली की काया पलट होगी। मै 'तरुण जैन' का, इसी शुभ कामना के साथ, नये वर्ष के प्रारम्भ मे अभिनन्दन करता हूं।

आपका—'भग्न हृदय'



चिट्ठी-पत्री

('तरुण जैन' नामक मासिक पत्र अङ्क ३ मार्च १९४२ से उद्धृत)

मान्यवर सम्पादक महोदय !

मैं यह पत्र आपकी सेवा में पहिले ही प्रेषित कर रहा हूं। सब से पहिले मैं आपको मेरा कुछ परिचय दे दूं। मै थली प्रान्त के एक बड़े शहर का रहने वाला और दस्से-बीसे से भी बढ़कर पच्चीसा तीसा ओसवाल हूं। शायद अन्य लोगों की तरह आप भी पूछ बैठे कि मै किस मजहब को मानने वाला हूं? पहिले ही कह दूं कि मैं इस वक्त जैन श्वेताम्बर पौने तेरा-पन्थी हूं। आप शायद इसको मजाक समझेंगे, मगर मैं आप से कसमिया कहता हूं कि आपके 'तरुण' ने और खास करके आपके दो लेखकों ने मेरा पाव पंथ घिस डाला। आप समझ गये होंगे, दो लेखकों से मेरा मतलब किन से है। आपको मालूम रहना चाहिये कि मै पुश्तैनी जैन श्वेताम्बर तेरा-पन्थ मजहब का कट्टर श्रावक था, मगर आपके इन दो गजब के लेखकों ने हनुमानजी के पाव रोम की तरह मेरा पाव पन्थ काट डाला। मुझे अब यह

भय है कि कहीं मेरा रहा सहा पन्थ ही न उड़ जाय। श्री 'भग्न हृदय' जी के लेखों को तो मैं जैसे तैसे हजम कर गया। मैंने सोचा कि चलो साधुओं के क्रिया कलाप और आचरण दुरुस्त नहीं रहे हों तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं, पञ्चम काल है, हुण्डा अवसर्पिणी का समय है, मगर श्री बच्छराजजी सिंघी के लेखों ने तो मेरा पन्थ ही उड़ाना प्रारम्भ कर दिया। अब तो मैं देख रहा हूं, यह पौने तेरह भी कायम रहना कठिन हो रहा है। मुझे यह पूर्ण विश्वास था कि हमारे पूज्यजी महाराज, जो शास्त्र फरमाते हैं, वे सोलह आना ठीक और अक्षर अक्षर सत्य है मगर सिंघीजी के लेखों ने तो आंखों की पट्टी खोल दी। सम्भवतः मुंह की पट्टी भी जो कभी कभी लगा लेता हूं, अब खतरे में है।

हमारे पूज्यजी महाराज जब थली प्रान्त मे विराजते है, तब अक्सर मैं सेवा मे साथ साथ रहता हूं। मैं देख रहा हूँ, जब से ये शास्त्रों की बाते, 'तरुण' में आने लगी है, हमारे मोटके सन्त आपके 'तरुण' की इन्तजारी मे बाट जोते रहते है। इधर कुछ समय से आपके 'तरुण' ने भी नखरे से पेश कदमी शुरू कर दी है। 'तरुण' के पहुँचते ही मोटके सन्तो की मीटिंगे होने लगती हैं। पूज्यजी महाराज भी पढ़ते हैं। वातावरण मे कुछ हलचल सी मच जाती है। उस दिन मेरे सामने ही 'तरुण' की बाते चल रही थी। एक अनन्य भक्त और विश्वास पात्र श्रावक अर्ज कर रहे थे

कि महाराज ! आप शिक्षा प्रचार मे पाप बता रहे हैं मगर शिक्षा का सम्बन्ध अब आजीविका से जुड़ा हुआ है। केवल आपके पाप बताने से लोग पढ़ने से रुक नहीं जायँगे। लोग जैसे जैसे शिक्षित होगे, उनमे तर्क और ज्ञान बढ़ेगा। ज्ञान बढ़ने से प्रत्यक्ष गणित से असत्य सबित होने वाली बातों की अक्षर अक्षर सत्यता की आपकी मोहर (छाप) टूटे बगैर कैसे रहेगा ? महाराज ने गम्भीर होकर उत्तर दिया कि 'यह विचारने की बात हो रही है।' सम्पादकोजी ! मुझे तो अब कुछ न कुछ समाज सुधार की तरफ रवैया बदलता प्रतीत हो रहा है; चाहे उपदेश की शैली बदल कर, चाहे श्रावको द्वारा समाज सुधार के लिए कोई संघ या सभा कायम होकर; और अब भी कुछ न हो तो महान् विनाश निकट ही है। पर मुझे विश्वास होने लगा है कि आपके 'तरुण' की उछल कूद खाली नही जाने की।

कुछ दिन पहिले मै कार्यवशात् सुजानगढ़ गया था। सिंघीजी से भी मिला। बड़े सज्जन प्रतीत होते थे। मैने कहा, "आपके 'तरुण' के लेखो मे शास्त्रो की बातों को असत्य प्रमाणित करने की सामग्री तो लाजवाब है, मगर आप सर्वज्ञता के शब्द साथ वही २ मजाक से पेश आ रहे है। यह बात मेरे हृदय मे खटकती है।" वे कहने लगे, "क्या आप स्वीकार करते है कि सर्वज्ञो की बात प्रत्यक्ष मे असत्य हो सकती है। यदि नही तो ऐसी

बातो के कहने वाले को आप सर्वज्ञ समझे ही क्यो ? सर्वज्ञ सत्य के कहने वाले ही होगे, और उनके साथ मजाक करने की मजाल ही किस की है'।" फिर वे कहने लगे, "मैंने ऐसा सोच समझ करही किया है कारण यदि मै दूसरी शैली से लिखता तो इन लेखों को रुचि से कोई पढ़ता तक नहीं। एक तो यह शास्त्रो का विषय ही शुष्क ठहरा और दूसरे उपदेशकों ने अपनी 'सन्तवाणी' द्वारा सैंकड़ो वर्षों के लगातार प्रयत्न से लोगों को शास्त्रों के अन्ध भक्त बना दिये है। इसलिए विना चुभने वाले शब्दो से मुझे असर होता नही दिखा।" सिंघीजी की बात कुछ मेरे भी जँची। खैर, आप मुझ से परिचित तो हो ही गये है। थली प्रान्त की हलचलों के बाबत आपको कभी कुछ पूछना हो तो मुझ से पूछ लिया करे। आप संकोच न करे। मेरा हृदय विशाल है, मै साफ कहूँगा। समय समय पर मै स्वयं भी आपको यहां की गति विधि से वाकिफ करता रहूंगा।

आपका—'थली वासी'



परिशिष्ट नं० २

तेरह-पन्थ और जैन पत्र

(श्वे० [मू०] सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध साप्ताहिक "जैन" पत्र के ता० ८ मार्च १९४२ पृष्ट १४७ पर सामयिक स्फूरणा मे से अनुवादित)

चोपड़ाजी का तेरा-पन्थी इतिहास



तेरा-पन्थ की मान्यताओ एव आचार व्यवहार के विषय मे हाल मे अनुकूल तथा प्रतिकूल चर्चा चलती हुई वाचने मे आती है। कोई २ तो ऐसी अतिशयोक्तिएँ एवं मिथ्या स्तुतिएं करते है कि बुद्धिमान लोगो को कंटाला उत्पन्न किये विना नही रहती और कोई २ बार ऐसे आक्षेप करने मे आते है कि सचमुच तेरह-पन्थ का स्वरूप क्या होगा, उस बाबत जरा भी प्रकाश नही मिले, ऐसी स्थिती मे वकील छोगमलजी चोपड़ा जैन श्वेताम्बर तेरा-पन्थी

सभा के मन्त्री ने छपवा कर प्रकाशित किया हुआ, इस सभा का संक्षित इतिहास अपने को कतिपय अंशो मे उपयोगी सिद्ध होगा। श्रीयुत् चोपडाजी का गुजराती भाषा पर, जैसा चाहिये वैसा काबु नहीं है, इसलिये वे क्या कहना चाहते है वह कहीं २ पर बहुत अस्पष्ट हो रहा है। लगभग ८० पृष्ठ की पुस्तिका मे ६ पृष्ट भरा, इतना तो शुद्धि पत्रक है। श्री वकील चोपड़ाजी का आशय "तेरा-पन्थी मत के सिद्धान्तो का रहस्य न समझ सकने के कारण बहुत से लोग दूसरों की निन्दा करने, तथा भोले भाईयो को बहकाने के लिये, गम्भीर दार्शनिक तत्त्व को उलटा कर निरर्थक कागज स्याही और समय का दुरुपयोग करते है, वह रोकने का है।

तेरा-पन्थी अपने को श्वेताम्बर जैन धर्म की शाखा के अनुयायी कहलाते है, इनके विषय में जो कुछ गैर समझ होती हो, उनके सिद्धान्तो का उलटा प्रचार होता हो तो उसका प्रतिकार करना यह जैन धर्म के प्रत्येक अनुयायी का प्रथम फर्ज है। तेरह-पन्थी की निन्दा अथवा बुराई दिखाना एक तरह जैन धर्म की ही अवहेलना है, कारण कि जो शाखा प्रशाखा के भेद को नहीं जानते, वे तेरह-पन्थ को ही जैन धर्म समझ कर जैन दर्शन की अवहेलना करते है।

वकील छोगमलजी चोपड़ा कहते है कि तेरा-पन्थ विरुद्ध, कितनेक ऐसी झूठी बाते फैलाते है, कि 'यह मत दया दान रहित

है,' बहुत से लोगो ने यह हकीकत सुनी होगी। श्रीयुत चोपड़ाजी इस आक्षेप का परिहार करने को उत्सुक हैं, परन्तु हमें यह कहते हुए दिलगीरी (खेद) होता है कि वकील महाशय स्वयं ही आक्षेप का प्रतिकार करने के बदले समर्थन करते हो, ऐसा प्रतीत होता है।

वकील महोदय ने रजू किया हुआ, एक कल्पित प्रसंग यहां विचारते है, कि इनके स्वयं के शब्दों मे ही भूत दया सम्बन्धी प्रश्न और उत्तर दोनो तपासे—

× × × × ×

प्रश्न—एक अनाथ बालक जाता हो, उसके पेट मे कोई नराधम छुरी भोकदे तो दया धर्मी को उस समय क्या करना ?

"उत्तर मे वकील छोगमलजी चोपड़ा कहते है कि—जिनाज्ञा प्रमाणे चलने वाले साधु साध्वी ऐसे अवसर मे मजकुर अनाथ बालक को बचा सकते नहीं, वे तो उपदेश देकर घातक को दुष्कृत्य से निवृत्त करे, अन्यथा जो यह देखना असह्य हो वे उस जगह को छोडकर दूसरी जगह पर चले जॉय। उपदेश से हिंसक को समझा कर दुष्कृत्य से निवृत्त करना वीतराग प्ररूपित धर्म है किन्तु बल प्रयोग, लालच या शरमा-शरमी से खाजे, लाजे, त्राजे करके बचाने मे श्री जिनेश्वर का धर्म नहीं। अतः बल प्रयोग से किसी को कष्ट पहुँचा कर बचा लेना यह श्री जिनेश्वर कथित धर्म नहीं है।"

× × × × ×

उपदेश देने जितना अवकाश नही रहा हो, अथवा उपदेश से वह घातक समझे ऐसा न हो, किन्तु उस समय हिम्मत भरा हुवा पडकार करने मात्र से जो दुष्ट मनुष्य के गात्र थरथरा जाते हो तो भी सिर्फ उपदेश ही सुनाना और यह दृश्य न देखा जाता हो तो वहाँ से चले जाना, भाग छूटना, इसमें दया, अहिंसा या जिन देव प्ररूपित सिद्धान्त की बात तो दूर रही, मनुष्य की मानवता ही कहाँ रही। और जो साधु साध्वी नहीं कर सकते यानि मरते प्राणि को बचाने की क्रिया, जो संसार त्यागी विरागी भी नहीं कर सके, वह श्रावक श्राविका से तो बने कैसे? पामरता की इससे अधिक मर्यादा दूसरी क्या हो सके।

घातक का घातकीपन और निर्दोष बालक की हत्या यह शुभाशुभ कर्म का परिणाम है, ऐसा यह वकील भाई अपने को व्यवहार के विषय मे भी जँचाना चाहते है, परन्तु यह तत्त्वज्ञान मूल भूमिका बगैर का होने से यहां टिक नहीं सकता, कँगाल बन जाता है।

जैन धर्म के उच्चतम सिद्धान्तो का यह दुरुपयोग-नही तो अन्य क्या कहा जाय? तेरह-पन्थ की जमात जो वृद्धि पामे यानि जगत भर मे तेरा-पन्थ मान्यता प्रवृर्त हो जाय तो समाज की कैसी स्थिती हो? कदाच समाज जैसा ही कुछ रहने नही पावे।

× × × × ×



परिशिष्ट नं ३

तेरा-पन्थ अने तेनी मान्यताओ

(ले०— श्रीमान् चीमनलाल चकुभाई शाह J. P., M. A, LL. B.)

सोली ीटर ट्रु [illegible]

सेक्रेटरी –श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फरेस

आपणा समाजनुं सतत हीत चिन्तवता एक मुनिराजे कान्फर-न्सनुं ध्यान खेच्यु छे के आ वर्षे तेरा-पन्थी साधुओ गु रात काठियावाडमा उतर्या छे अने केटलेक स्थळे चातुर्मास करी पोताना पन्थनो प्रचार करे छे. गुजरात काठीयावाडमां तेरापन्थनुं नामनुं ज स्थान छे, काठियावाडमां तो हुँ जाणुँ छुँ त्यां सुधी बिलकुल नथी ज्यारे गुजरातमां सुरतमां ज २–४ कुटुम्ब आ पन्थनां अनुयायी छे.

तेरा-पन्थ स्थानकवासी सम्प्रदायमांथी लगभग १७५ वर्ष पूर्वे जुदो पडेल नवो पन्थ छे. तेनां साधु साध्वीओ स्थानकवासी साधु साध्वी जेवो ज पहेरवेश पहेरे छे, सिवाय के ध्यान पूर्वक जोवामां आवे तो खबर पडे के तेमनी मुंहपत्ति विशेष लांबी अने पहोळाइमा

टुंकी होय छे. पण आ हकीकतनो जेने ख्याल न होय तेओ आ साधु साध्वीओ ने स्थानकवासी सम्प्रदायना साधु साध्वीओ ज माने तेमनो उपदेश पण ३२ सूत्रो उपर ज रचायेलो छ ऐम तेमनो दावो छे अने आचारमां पण तेओ देखीती रीते स्थानकवासी साधुना आचार पाले छे. एटले कोई पण भ्रमणामा पडे एवु छे. तो एक सवाल ऊभो थाय के तेमनो विरोध शा माटे करवामा आवे छे.

आपणा सम्प्रदायनां अग्रगण्य साधु मुनिराजो अने श्रावको जेमने तेरा-पन्थनो पुरतो अंगत अनुभव छे तेवाओए चेतवणी आपी छे के, तेरा-पन्थी मान्यताओ स्थानकवासी सम्प्रदायनी मान्यताओथी सदंतर विरोधी छे, एटलुज नहि पण जैन धर्मना सिद्धातोथी विरोधी छे. अने तेरा-पन्थी साधुओनां बाह्य आचारथी आकर्षाइ आपणा भाईयो तेमनी मान्यताओ तरफ वळशे तो स्थानकवासी सम्प्रदायने अने जैन धर्म ने मोटी हानि थवानो सम्भव छे. एक भाइए मने लख्यु छे के आपणा केटलाक अनुभवी साधुजीओए तेरा-पन्थ विषे तेमने केटलीक वातो कही ते कमकमाटी उपजावे तेवी छे.

आ उपरथी मारी जिज्ञासा वधी, अने में तेरा-पन्थ सम्बन्धे कांइक जाणवा प्रयत्न कर्यो. आज अरसामा मने केटलाक तेरा-पन्थी श्रावकोनो परिचय थयो अने तेमनी साथे लंबाणथी मे चर्चा करी तेमज तेमनु केटलुंक साहित्य मेळव्युं. थोडा दिवस पहेलां कल-

कत्ताना श्री सिद्धराज जी ढड्ढा जेओ कलकत्तानी ईन्डीयन मरचन्टस चेम्बरना मन्त्री छे तथा तरुण जैन ना तन्त्री श्री भँवरमलजी सिंघी ने मलवानो मने प्रसंग मळयो. कलकत्ताना जैनोमा मोटो भाग तेरा-पन्थी मारवाड़ीओनो छे. तेमनी रहेणी करणी, विचारश्रेणी, स्थितिचुस्तता अने अहिंसा सम्बन्धेना खोटा ख्यालोनी विगतवार हकीकतो ए भाइयो पासेथी मे साभली.

मारे तेरा-पन्थ विषे लखतां पहेलां तेथी पण विशेष माहीति मेळववी हती. एटले विशेष तपास करी तो जणायुं के पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज साहेबे 'सद्धर्म मण्डन' नामे एक ग्रन्थ लख्यो छे जेमां तेरा-पन्थना आचार्य जीतमलजीनुं लखेल एक पुस्तक "भ्रम विध्वंसन" नुं खण्डन करवामां आव्यु छे ते पुस्तक मेळवी जोइ गयो. तेमां शास्त्रनां संख्याबंध आधारो टांकी तेरा-पन्थी मान्यताओनुं सफल खण्डन कर्युं छे. मारवाडमां आ सम्बन्धे खूब वादविवाद थयो हतो अने थाय छे. श्री सद्धर्म मण्डननी प्रस्तावनामा तेरा-पन्थी मान्यताओ संबंधे केटलीक हकीकतो लखी छे जे आपणे मानी न शकीए तेवी छे. कोई पण सम्प्रदाय के व्यक्ति पछी ते जैन होय के अजैन एवी मान्यताओ धरावे ए मने तो असंभव लाग्युं छतां तेनां घणां पुरावाओ आपवामां आवे छे.

आवी मान्यताओनां केटलाक नमुनाओ, ते प्रस्तावनामां आप्य छे. दाखल तरीके—

(१) गायोथी भरेल वाडामां आग लागे अने कोई दयावान पुरुष ए वाडानुं द्वार खोली गायोनी रक्षा करे तेने तेरा-पन्थी एकान्त पाप कहे छे.

(२) त्रण मजला उपरथी कोई बालक पडतुं होय तो तेने उपरथी पकडी बचावनार दयावान पुरुषने तेरा-पन्थी पाप करतो माने छे.

(३) तेरा-पन्थी साधुओ सिवाय संसारमा सर्व प्राणीओ 'कुपात्र' छे.

आ वस्तु वांचीने मने घणुं आश्चर्य थयुं. आवी मान्यताओ धरावती तात्विक भूमिका समजवा हुं प्रयत्न करी रह्यो छुं. दुर्भाग्ये तेरा-पन्थी साहित्य घणुं खरूं मारवाड़ीमा छे जे मने मळ्युं नथी. छतां जे थोडुं मल्युं छे ते तेमज तेमनां श्रावको तथा श्री सिद्धराजजी ढड्ढा अने श्री सिंघी साथे मारे जे वातचीत थई ते उपरथी तेरा-पन्थ साधुओनो उपदेश आवी कोईक मायताओमां परिणामे एम मने लागे छे.

× × × × ×

तेरा-पन्थी मान्यताओमा जैन धर्मनी साची भावनाओ होत तो तेनुं प्रतिबिम्ब आपणे तेरा-पन्थी श्रावक समुदायमा जोई शकत आपणने जे जोवा मळे छे ते तेथी तद्दन विपरीत छे.

भाई श्री सिद्धराजजी ढड्ढा अने श्री भँवरमलजी सिंघीए कलकत्ताना तेरा-पन्थी समाजनी स्थिति मने वर्णवी ते उपरथी जणाय छे के तेओ अत्यन्त स्थिति चुस्त अने जड़ छे. सामाजिक कोई पण कार्यमा भाग न ले. समाज सेवामा तेओ धर्म मानता

नथी. गरीबोने मदद करवी, भूख्याने अन्न आपवुं, निरक्षरने ज्ञान आपवुं, दर्दीने नवीवी राहत आपवी अथवा तेनी सारवार करवी समाज उपयोगी कोई पण कार्य करवुं तेमा तेऔ धर्म मानता नथी. तेमनां मत मुजब अने तेरा-पन्थी मान्यता मुजब आ बधा सांसारिक कार्यो छे. जेनी प्रवृत्तिमां कर्म बंधन छे. जेथी संसार बधे छे अने तेथी ते मोक्षमार्ग नथी. तेरा-पन्थीओ दानना विरोधी कहेवाय छे तेनु आ कारण छे.

तेवाज ख्यालो अने मान्यताओ जीवदया अने प्राणीरक्षा संबंध छे. कोई जीवनी रक्षा करवी अने तेने बचाववो तेमां तेओ धर्म मानता नथी. आ कथन कदाच आश्चर्यकारक लागशे तेथी जरा विस्तृत रीते समजावुं. दयाना बे प्रकार—स्वदया अने परदया अथवा जीवरक्षा. तेरा-पन्थी स्वदयामा मारे छे एटले के पोते कोई जीवनी हिंसा करे नहिं, करावे नहि अथवा करता प्रत्ये अनुमोदे नहि. पण परदया अथवा जीवरक्षामां नथी मानता. एटले के, कोई जीवने मरता बचाववो तेमां धर्म नथी मानता. तेनो प्रख्यात दाखलो बिलाडी उंदरने मारवा जती होय तो तेओ अटकावे नहि माणस मरी जातो होय तो तेने बचाववमा धर्म माने नहि. आवी मान्यता माटे कारणो घणा दर्शाववामां आवे छे. एक तो एम कहेवामां आवे छे के ते माणस बचशे तो सासारिक प्रवृत्ति करशे तेने कर्मबन्धन थशे, जेनो दोप बचावनारने लागशे. सौ सौना कर्म

प्रमाणे दरेकनुं थाय छे. तेमां बीजा कोइए बच्चे पडवानी जरूर नथी बच्चे पडवामां धर्म नथी. कदाच पाप छे एम खुल्ली रीते न कहे.

आवा कारणे तेरा-पन्थीओ दयादानना विरोधी कहेवाय छे. आ सिद्धान्तो जैन धर्मना साचा सिद्धान्तो छे एवो तेमनो दावो छे. आवी मान्यताओ बराबर अमलमां मूकाय तो तेना केटला भयङ्कर अने विपरीत परिणामो आवे तेनी कल्पना करवी मुश्केल नथी. तेरा-पन्थी श्रावको साथे चर्चा करीए त्यारे तेमना मान्यताओना आवा परिणामो आवे ते तेमने कहीए त्यारे तेओ पण भडकी बैठे छे. आ परिणामों स्वीकारवानी तेमनी हिम्मत नथी. अन्ते "अमे न जाणीए, महाराजजी जाणे" एम कहीने उभा रहेशें. तेरा-पन्थी साधुओ साथे चर्चा करो त्यारे गोल गोल जवाब आपशे. तेमनामा पण तेमनी मान्यताओनां अचूक परिणामो प्रकटपणे स्वीकारवानी हिम्मत नथी. भूख्याने अन्न आपवामां धर्म नथी, मादानी मावजत करवामां धर्म नथी, समाज सेवामां धर्म नथी, मरता जीवने बचवावामा धर्म नथी, एवुं स्पष्टपणे तेओ कहेतां अचकाशे. तेरा-पन्थी साधुओनां परिचयमां आवनार भाइओने मारी विनती छे के तेमनी पासेथी स्पष्ट जबाब लेजो के उपरनी प्रवृत्तिओमा धर्म छे के पाप ?

(जैन प्रकाश—ता. २६-७-४१ तथा ता. ९-८-४१)



श्री जैन हितेच् श्रावक मंडल रत ाम

का

परिच

पद धिकारी

प्रेसीडेंटः—श्रीमान से हीराला जी नांदेचा

वाइस प्रे.:—बालचंदजी श्रीश्री ाल

खचाञ्चीः— बदीचंदजी र्धभान ी पीतलीया

सेक्रेटरीः—सु नमल गादिया

ाल ि ं

(१) श्री धार्मिक परीक्षा बोर्ड का संचालन

(२) शिक्षण संस्थाओ का संचालन

(३) निवेदन पत्र का सम्पादन एवं प्रकाशन

(४) साहित्य का सम्पादन एवं प्रकाशन

(५) न्यायपूर्ण, सरल, सत्य सिद्धान्तो का प्रचार

द य

रुपे ५०१) से अधिक एक मुश्त देनेवाले वंश परम्परा के सदस्य

रुपे १०१) से रुपे पांच सो तक देनेवाले आजीवन सदस्य

रुपे २) वार्षिक शुल्क, देनेवाले वार्षिक सदस्य माने जाते है।